सिद्धि
स्वरूप
वैभव
श्रीमद रामहर्षण दासजी महाराज

श्री सिद्धिजी : (मुस्कराकर) मेरे सर्वस्व ! सच पूछिये तो यह सब कला कलाधर की कला के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। प्यारे ! रात्रि बहुत व्यतीत हो गई है अस्तु आप श्री की शयन-झाँकी देखने की त्वरा सबको हो रही है, अनुमति की प्रतीक्षा करना किंकरी का कर्त्तव्य ही है।

श्रीरामजी : प्रिये ! अवश्यमेव, अधिक-रात्रि व्यतीत हो चुकी है अतएव सभी को शयन करना चाहिये।

[समाज शयन-कुंज को प्रस्थान करता है।]

पटाक्षेप

इति पञ्चमः अंकः

- - - - - - - - - - -

अथ षष्ठमः अंकः

एकोन षष्टितमः दृश्यः ५९

[श्री नृपति-नन्दिनी-नन्दनजू अपनी नित्य नव-नव लीलाओं के द्वारा परिकरवृन्द को आनन्द के अम्भोधि का अवगाहन कराते हैं। कभी आप अयोध्या प्रस्थान करते हैं तो कभी मिथिला आते हैं। युगल किशोर युगल-पुरियों के प्राण के प्राण और सुख के सुख बने हुये हैं। परस्पर आनन्द का आदान-प्रदान करते-करते परिकरों केबीच आप श्री के बारह-वर्ष, अल्प समय के समान व्यतीत हो गये तदनन्तर विप्र-धेनु-सुर-संत-हितार्थ मनुष्यावतार धारण करने वाले श्रीराम अपनी आत्म-प्रिया सीता के साथ देव-कार्य करने के लिये वनवास का विधान बनाकर वनवासी बन गये। इधर मिथला में आप युगल-मूर्तियों को बुलाने की भावना भाव-विभोर कर रही है। भावी-आनन्द की स्मृति सभी को सुख-शय्या पर शयन कराकर स्मृति-शून्य बना रही है श्री सिद्धि कुँअरिजी सिद्धि-सदन में सखियों से समावृत श्री सीता-कान्त की सुमधुर चर्चा कर-करके तल्लीन हो रही हैं।]

[श्री लक्ष्मीनिधिजी की मुख-मुद्रा अत्यन्त उदास है और वे अश्रु-विमोचन करते हुये, डगमग पैरों से श्री सिद्धि-सदन में प्रवेश करते हैं।]

श्री सिद्धिजी : (उठकर आश्चर्य मुद्रा में) चित्रे ! हाय ...! क्या देख रही हूँ मैं ? देखो न ! प्राणनाथ आज दासी को मेरे समीप बिना भेजे विमनस्क अश्रु-धारा-विमोचन करते हुये आ रहे हैं। हाय ! दृश्य-देखकर हृदय-फट सा रहा है। दौड़ो-दौड़ो उन्हें सम्हालकर गिरने से बचाओ।

[ऐसा कहकर श्री सिद्धिजी स्वयं विह्वलता के साथ दौड़कर श्री लक्ष्मीनिधिजी के चरणों में गिरकर लिपट जाती हैं। लक्ष्मीनिधिजी स्वयं को सम्हालने पर भी सम्हल न सके पृथ्वी पर गिर गये। श्री सिद्धिजी के उठाने पर उन्हीं से लिपट जाते हैं और कण्ठ फोड़-फोड़कर रोने लगते हैं]

श्री सिद्धिजी : (श्री लक्ष्मीनिधिजी के अश्रु पोंछते हुये, हृदय से लगाकर) नाथ! नाथ ! क्या हो गया ? आप श्री की दशा का समीक्षण करके मेरा चित्त चंचल हो उठा

है हृदय धीरता का विसर्जन करके कम्पायमान हो रहा है। हाय ! चित्त में चैन नहीं और बुद्धि में विवेक नहीं । प्रभो धैर्य धारण करें । हाय ! आपके इस करुणा-क्रन्दन से वसुन्धरा विदीर्ण हो जायेगी तथा मेरी छाती भी बिना फटे न रहेगी अतएव आप धैर्य-धारण कर इस अपूर्व-भूत क्लेश का कारण कथन करने की कृपा करें ताकि दासी उसका उचित-उपचार कर सके।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (धैर्य धारणकर) प्रिये ! क्या कहूँ? मेरे खोटे कर्मों के घडे के फूट जाने से मुझ पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है। हाय ! हाय ! कठोर एवं कटु-वार्ता कहने और श्रवण कराने का अधिकार इस वज्र-हृदय को ही मिला है। हाय ! क्या करने जा रहा हूँ? कमल-कोमल हृदय को वाक्-वाण से बेधने जा रहा हूँ हृदय-वल्लभे ! कुछ कहने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ, आपकी उरस्थली की तृण-शाला मेरी वाक्-वह्नि से कहीं भस्म न हो जाय।

[अश्रु-विमोचन करते हुये, अवरुद्ध-कण्ठ से कुछ बोल नहीं पाते।]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) प्राणनाथ ! मेरे प्राण-पखेरू कहीं उड़ न जाँय आपके इस चीत्कार-रव से अस्तु, समास में कुछ श्रवण कराने का साहस करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (धैर्य-धारणकर,साश्रु) प्राण-संजीवनी। मेरे सर्वस्व कौशल-किशोर ने किशोरी सहित बनवासी बनकर मुनियों के वेष का सहर्ष सम्मान किया है। हाय ! राघव के हृदय को हृदयंगम करना सर्वथा दुष्कर है, उन महाशयी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आकलन करना किसी सुर-नर-मुनि को संभव नहीं हो सकता।

श्री सिद्धिजी : हैं ! क्या कह रहे हैं आप ? हाय ? चिद्घन का चैतन्य विक्षिप्त चित्त की वेदी पर बैठ गया क्या ? चित्त की अस्वस्थता ने महात्मा के मस्तिष्क में भी कैस-कैसे भावों को भरकर स्वस्थ शरीर को अस्वस्थ बना दिया है। श्याम सुन्दर की अनुपस्थिति ने श्री के हृदय-देश में विरह की वह्नि को वर्धमान कर संतप्त कर दिया है। प्राणधन ! चिन्ता को चित्त-प्रदेश से पृथक कर दें, कुछ दिन में आपके भगिनि-भाम पुनः अयोध्या से मिथिला पधार कर आपको अपना आलिंगन प्रदान करेंगे, प्रभो!

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु) प्राण-प्रिये ! आपको मेरी बात असंभव सी प्रतीत हो रही है ? दुर्दैव क्या नहीं कर सकता प्रिये ! दुर्दिनों के आने पर मित्र शत्रु बन जाते हैं, स्वर्ण मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो जाता है और सुर-नदी में वैतरणी का दृश्य दृष्टिगोचर होने लगता है। श्रीमान् पिताजी के पास अयोध्या से राजदूत आया है, उसने खबर दी है कि श्रीरामजी, श्री किशोरीजू तथा श्री लक्ष्मण कुमारजी वनवासी-वेष से सम्प्रति चित्रकूट-गिरि में निवास कर रहे हैं। हाय ! चरण-कमल के निकटतम-प्रान्त में निवास करने वाले लक्ष्मीनिधि के मन-मधुकर की दुर्दशा होने का समय सम्मुख आ गया है।

[सुनकर श्री सिद्धिजी दहाड़ मारकर रोते-रोते मूर्छित हो जाती हैं, श्रीचित्राजी उपचार द्वारा प्रकृतिस्थ करती हैं]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु ,थर-थर काँपती हुई) प्राणनाथ! मुनियों का वेष अपनाकर चक्रवती-कुमार के बन में बसने का प्रयोजन क्या था ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु)प्रिये ! स्वतन्त्र-स्वराट-सीतापति श्रीराम का वन-गमन, परतन्त्रता का पाठ पढ़कर मानव को मानवीय-आचरणों के औचित्य का निदर्शन कराने के लिये हुआ है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) मेरे जीवन–धन ! दासी की समझ में कुछ नहीं आया। किसकी अधीनता उनके सुख–सौभाग्य की संहारिका सिद्ध हुई हैं ? आश्चर्य ! महाआश्चर्य!! शास्त्रों में लिखा है कि सर्व–भूतात्मा, सर्व–भूत हितैषी, सर्व भावेन अहिंसक मानव के प्रभाव से सर्व–भूत निर्वैर हो जाते हैं, जिस देश में वह निवास करता है, वहाँ के हिंसक्र पशु भी अपनी सहज शत्रुता का परित्याग करदेते हैं तो विश्वात्मा रामजी के सुन्दर स्वभाव का प्रभाव, अभाव रूप में परिवर्तित होकर उन्हीं से वैर करने के लिए कैसे किसी को बाध्य कर दिया।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु) प्यारी ! माता कैकेई के आग्रह से श्री चक्रवर्तीजी महाराज का आदेश ही आनन्द कन्द–कौशल–किशोर को अयोध्या के युवराज–पद से पृथक करके वन भेजने में कारण हुआ है। भविष्य के पेट में छिपी हुई भवितव्यता एवं हिताहित का ज्ञान रखने वाला तो ब्रह्मा ही है। देवि !

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) प्रभो ! माँ कैकई जी का दुराग्रह क्यों ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु) श्री भरतजी को चक्रवर्ती –पद पर प्रतिष्ठित करने लिये। अहो ! प्रफुल्ल–वदन श्री रामजी का कैकई जी के चरणों में सर्व भावेन प्रणाम करके वन में जाना, श्याम सुन्दर के शील का अविस्मरणीय चित्र है, जिसे स्मरण कर मेरे शरीर की नस–नस चूर होने लगती है।

श्री सिद्धिजी : (उसासें भर कर साश्रु) हाय ! मेरे मनोरथ की कोमल कमल की कली को कुसुमय में कराल–काल के गयन्द ने स्व–कर से उखाड़ कर निज–मुख का कवल बना लिया। हाय ! हाय ! मेरे ननद–ननदोई के चरणाम्भोज वन के कंटकाकीर्ण–पथ के पथिक बन जाने के कारण कंटकों, कंकड़ों और कुरायों से प्रभावित हुये बिना कैसे रह सकेंगे ? हाय ! मेरा वज्र–हृदय विदीर्ण नहीं हो रहा है। हाय ! प्रेमी के प्रेम का पर्यवसान तो प्रेमास्पद के दुःख को श्रवण करते ही प्राण के प्रयाण करने में हैं किन्तु मेरे प्राण, शरीर का संग परित्याग करना अरुचिकर समझ रहे हैं अस्तु, यह कृतघ्ना प्रेयस की प्रेयसी नहीं, प्रत्युत स्वार्थ एवं देहाभिमान की प्रत्यक्ष प्रतिमा है। हा ! श्याम सुन्दर ! हा ! जनकात्मजे ! हाय ! हाय !!

[कहकर हृदय में पाणि–प्रहार करती हुई मूर्छित हो जाती है]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु, श्री सिद्धिजी को कुछ धैर्य बँधाकर) प्रिये। प्रेम पथ का प्रारम्भ अपनत्व की केन्द्र–बिन्दु से होता है और उसकी उच्चतम–स्थिति देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान और उपेयाभिमान को खोकर प्रेमास्पद के अतिरिक्त अन्य को न देखने, न श्रवण करने और न जानने में होती है। आप भाव–प्रवण एवं प्रेम– प्रवण की पराकाष्ठा को प्राप्त कर प्रेमा–पराभक्ति की उज्जवल धारा में केवल गोते ही नहीं लगा रही हैं। अपितु प्रेम–रस के प्रवाह में बहकर रस–धारा से अभिन्न हो गईं हैं। आपके प्राण की सुरक्षा प्रियतम की प्रेरणा तथा इच्छा से उन्हीं के सुख के लिये हो रही है अन्यथा आप अपने देह–प्राण को सहन करने में सक्षम न होकर मुझे दुःख का पिण्ड बनाकर शोक–सिन्धु में फेंक दी होती ।

श्री सिद्धिजी : (हिचक–हिचककर रुदन करती हुई) प्राणनाथ ! श्याम सुन्दर रघुनन्दन तथा श्री नृपति–नन्दनीजू, निखिल प्रपंच के प्राण हैं अतएव चराचर जगत को

प्राण-प्रिय हैं किन्तु मुझे प्रिय नहीं हैं क्या ? हाय ! प्रिय होते तो मुझे अपने प्राण, प्रिय क्यों लगते ? हाय! प्रियतम-नीर के न होने से पंक विदीर्ण हो जाता है, मछली प्राण-हीन हो जाती है परन्तु मैं कैसी प्रेमिका हूँ कि प्रेम का स्वाँग भरती हुई प्रीतम के बिना प्राणधारण कर रही हूँ। हाय ! मेरे ननद-ननदोई बन में कैसा दुःखमय-जीवन व्यतीत करते होंगे। हाय! हाय ! हाय !! रघुनन्दन के सुखमय शील-स्वभाव की झाँकियाँ मेरे हृदय-पटल पर अमिट अंकित हैं अर्थात् मेरे लिये वही छाप छोड़कर वे बन में प्रवेश कर गये हैं, जिनका स्मरण रात्रि-दिन अश्रु-विमोचन का कारण बनेगा।

[वन-दुःख की स्मृति से सिर कूट-कूटकर स्मृति-शून्य हो जाती है।]

चित्राजी : (साश्रु, बहुत उपचार के बाद कुछ धीरज बँधाकर) स्वामिनीजू ! आपका शरीर-प्राण आपके नहीं हैं क्योंकि आप श्री अपने को सर्व-भावेन अपने ननद-ननदोई को समर्पित कर चुकी हैं। प्रेमास्पद के परतंत्र होने से आप अपने अधीन भी नहीं है। शरीर के रहने न रहने में आपका प्रयोजन एवं आग्रह होना आपके स्वरूपानुरूप नहीं है। मिष्ठान्न की मधुरिमा एवं पुष्प के सौरभ के समान आप दम्पति कथन मात्र के लिये दो हैं, वस्तुतः आप दोनों एक दूसरे के पूरक एवं रस-वर्धक हैं। तत्वतः अभिन्न हैं अतएव अपने पति परमेश्वर की जीवन-ज्योति के रक्षणार्थ आप अपने प्राण-पक्षियों को उड़ाने के लिये श्रीराम-विरह के नगाडे को इतनी तीव्रतम तथा ऊँची गति से वादन करने के स्वाभाविक पने को विलम्बित और निम्न स्वर से... बजाने का प्रयास करें, अन्यथा ... आशंका.... भय.... व्यामोह और विपत्ति पर विपत्ति का आक्रमण ....

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) चित्रा ! तुम्हारा कथन सर्वथा सत्य और सिद्धान्त से ओत प्रोत हैं। मैं भी यही समझती हूँ किन्तु क्या करूँ ? युगल-किशोर के मन्द-स्मित मुखारविन्द का स्मरण मुझे स्मृति शून्य बना रहा है, धैर्य की धुरी टूटकर न जाने वह किस वन में विलीन हो गई है। हाय... ! आर्द्र-हृदया माँ कौशिल्या तथा वात्सल्य-भाव की साकार मूर्ति श्री चक्रवर्ती जी महाराज की क्या दुर्दशा हुई होगी ? हाय ! हाय !! कुमार भरतजी व शत्रुघ्नजी के प्राण अपने बड़े भ्राता की अनुपस्थिति में बिना जंल के मीन जैसे छटपटा रहे होंगे ? हाय ! अयोध्या दुःख की मूर्ति बनी हुई भूत-प्रेत-पिशाच के आवास जैसी भयानक लग रही होगी। हाय ! हाय !!

[कहकर पुनः मूर्छित हो जातीं हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (सचेत करके, रोते हुये) प्रिये ! श्रीराम के समान मुझे अपने लाड़-प्यार के अन्न से पोषण करने वाले परम पूज्य श्री चक्रवर्तीजी महाराज कौशिल्यानन्द-वर्धनजू के वियोग की अग्नि में भस्म होकर एवं संसार व शरीर की असहिष्णुता के कारण परम-पद-प्रस्थान कर गये हैं। विरह-पीड़िता श्री कौशिल्या अम्बा तथा श्री सुमित्रा अम्बा अग्नि से झुलसी हुई लता के समान अर्ध-जीविता बनकर किसी प्रकार जी रही हैं। सानुज श्री भरत जी महाराज कैकय-देश से आकर बहुत दुःखी हुये और अवनीश का अन्त्येष्टि-संस्कार-सम्पादन करके आत्यान्तिक विरह विपत्ति की व्यथा से व्यथित चित्रकूट चले गये हैं। साथ में उनके, अयोध्या का सारा समाज गया है, ऐसा अभिज्ञान राजदूतों के द्वारा श्रीमान् पिताजी को प्राप्त हुआ है। अहो ! हमारे

भगिनि-भाम का व्यक्तित्व कितना महान है जिससे प्रभावित होकर उनका वियोग जड़-चेतनात्मक पूरे जगत को जला रहा है

हाय ! यह सब मेरे दुर्दिनों एवं दुर्भाग्य का दुसह-दोष है। हाय! हाय!! विधिना को मेरा सुख-सौभाग्य सह्य नहीं हुआ।

[हाय ! हाय !! कहते हुये श्री लक्ष्मीनिधिजी रोते-रोते मूर्छित हो जाते हैं।श्री सिद्धिजी भी श्री चक्रवर्तीजी महाराज का प्राण-प्रयाण श्रवणकर परम-विह्वलता के साथ रोती-रोती स्मृति-शून्य हो जाती हैं।। अन्य सखियों को लेकर, चित्राजी उपचार द्वारा दोनों को प्रकृतिस्थ करती हैं।]

चित्राजी : (साश्रु)राजकुमार ! अवश्य ...कमल कोमल हृदय को विवेकहीन विधाता ने वज्र से वेधने का कठिन साहस किया है। हाय ! आप युगलमूर्तियों की विरह-व्यथा का दर्शन, दीन दासी को यद्यपि अत्यन्त असह्य हो रहा है, तो भी स्वधर्म को पुरस्सर करके क्रमानुसार अपने युगल-आराध्यों को प्रकृतिस्थ करने का प्रयत्न कर रही है यह ! स्वामिन् ! समय का सत्कार करें, विवेक का आश्रय लें और कर्त्तव्य का पालन करें जिससे लोक-संग्रह बना रहे क्योंकि आर्य-पुरुषों के आचरण को ही इतर प्राणी आचरित करते हैं अन्यथा अकाल ही में लोक पतनोन्मुख हो जाय।

श्री सिद्धिजी : (प्रकृतिस्थ होकर, साश्रु)प्यारे ! चित्रा का कथन श्रवण से उतारकर हृदयङ्गम कर लेना चाहिये और करणीय-कृत्यों पर विमर्श कर उस पर आरूढ़ हो जाना चाहिये। स्वस्थ और प्रसन्न मन हुये बिना कर्त्तव्य का वास्तविक निर्णय देने में अस्वस्थ-पुरुष असावधान ही रहता है। किंकरी उपदेश नहीं दे रही है, प्रत्युत आप श्री को स्मरण करा रही है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु) प्रिये ! श्रीमान् दाऊजी सचिव-समाज के बीच दृढ़-निश्चय कर चुके हैं कि ससमाज चित्रकूट में सानुज श्री रामजी और श्री किशोरी जी का दर्शन करने के लिये अविलम्ब प्रस्थान करना चाहिये। समाज को लेकर श्री भरतजी भी चित्रकूट पहुँच चुके होंगे। अस्तु, पूज्य पिताजी का विचार एवं अनुशासन ही अपने को कर्मो के औचित्य का निदर्शन कराने वाला प्रमाणपत्र है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) प्राणनाथ ! हमारे श्वसुर-देव के सभी विचार विवेक से शोधित, शोभनीय और सत्य पूत होते हैं। अवश्यमेव हम लोगों का परम कल्याण उनकी आज्ञानुवर्तन में ही निहित है। अहो! श्री रामभद्रजू की भद्रचर्या एवं अम्लानित मुख-मुद्रा से उनका वन-गमन पुत्र-धर्म की ध्वजा फहराकर पुत्र के कर्तव्य का पूर्ण प्रशिक्षण है, जिसे अपनाकर ऐहिक और पारमार्थिक लाभ से कोई जगज्जीव वञ्चित न रह सकें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु) विरहातुरे ! श्रीमान पिताजी की कृपा से चित्रकूट चलकर रघुनन्दन के मुखाम्भोज का मकरन्द हम लोगों के अतृप्त-नेत्र-भ्रमरों को पान करने को पुनः प्राप्त हो जायेगा पश्चात् जैसा विधि का विधान एवं कुटिल-कर्मों का परिपाक होगा वैसा अनुभव अंतःकरण करेगा। हाय ! क्या करूँ ? श्रीराम के वन-गमन की स्मृति हृदय को करोये जा रही है। हाय ! आँखों में अँधेरा छा गया है, चित्त अचेतनता के चक्र में चक्कर लगाने लगा और कण्ठ फूट आया। हाय ! हाय !! मेरे दुर्भाग्य की अपरिसीमित समस्या सामने आकर प्रत्यक्ष समुपस्थित हो गई।

[अधीर होकर श्री लक्ष्मीनिधिजी रोने लगते हैं।]

श्री सिद्धिजी : (रोती हुई धीरज धर कर) प्राणनाथ ! श्री राम-वियोग-जन्य-दुःखांश के सदृश समस्त संकटों एवं अनुतापों के कटु प्रायःक्लेशों की कल्पना कभी नहीं की जा सकती। हाय ! विधाता के विधान से श्री रघुनन्दन के वियोग का वही वज्रपात आज हमारे शिर पर हुआ है। हाय ... ! आश्चर्य है... इतने पर भी मेरे शिर के टुकड़े-टुकड़े नहीं हुये। हाय ! हृदय की कठोरता की प्रतियोगिता में कठिन से कठिन वज्र को भी विलज्जित होना पड़ा। हाय ! श्री राम का वियोग जब जीवात्मा को अल्प-समय के लिये भी सह्य नहीं है तब चतुर्दश-वर्षावधि की विरह-व्याधि, क्या प्राणों के प्रयाण का पाथेय बाँधकर प्राणों को विदा नहीं करेगी। हाय ! हाय !! कष्ट ! महाकष्ट!! चित्रकूट चलकर युगल किशोर के वनवासी वेश को देखने में ये नेत्र कैसे सक्षम हो सकेंगे। हाय ! मेरी लाड़िली ननँद के कहाँ कमल-कोमल पद-तल और कहाँ कंकरीली-पर्वतीय पृथ्वी। हाय ! हाय !! एक-एक उनके विषम-परिस्थिति की स्मृति मुझे विस्मृति के गर्त में गिरा रही है। हाय! हाय!!

[कहती हुई श्री सिद्धिजी मूर्छित हो जाती हैं]

चित्राजी : (साश्रु, सचेत करके, दुखी होकर पद गाने लगती है ...)

पद : सुनियो स्वामिनि बात हमारी।
दासी के सर्वस्व दोउ हैं, मैं नहिं मोर विचारी।
निरखि दशा दयनीय दोउ की, सुधि नहिं रहत सम्हारी।
ह्वै अचेत कैंकर्य विमुख बनि, हा ! होइहौं मुख कारी।
हर्षण होइ प्रकृतिस्थ चलहु अब, संध्या समय निहारी।

स्वामिनीजू ! आप दम्पति ही दासी के सर्वस्व हैं किंकरी आपकी दयनीय दशा का दर्शन कर-करके किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रही है। चिन्ता उत्पन्न हो जाती है कि आप दोनों की करुणावस्था में अभिभूत होकर कहीं आप लोगों को प्रकृतिस्थ करने के कैंकर्य को न कर सकी तो महान अपचार हो जायेगा। प्रार्थना है कि सन्ध्या-कालीन समय के निर्वाह की हानि न होनी चाहिये। अस्तु, सायं-कृत्य करने के लिये प्रस्थान करें। किंकरी उपदेश नहीं दे रही है अपितु स्मृति-शून्य अपने आराध्या को अपरिहारिक-आह्निक-कृत्यों के करने का स्मरण करा रही है।

श्री सिद्धिजी : (सचेत होकर) प्राणनाथ ! चित्रा का चारुतम-व्यवहार चित्त को औचित्य की ओर आकृष्ट करने वाला सदा से रहा है। आज भी उसका संकेत हमको व आपके अनुकूल-करणीय-कृत्यों के करने की प्रेरणा दे रहा है अस्तु, सायं-कृत्य करने के लिये पधारे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! अवश्यमेव चित्राजी की चेष्टायें हम लोगों को सुख स्वरूप बनाने में लगी रहती हैं। अस्तु, अवश्यमेव सायं-निर्वाह करने के लिये चलना चाहिये।

[सायं-कृत्य करने के लिये, दम्पति प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

[श्री विदेह जी महाराज ससमाज चित्रकूट को जाते हैं। वहाँ अयोध्या और मिथिला-समाज का मिलन होता है। दोनों समाज शोक के सागर में निमग्न हो जाते हैं। श्री रामजी व श्री लखनलाल जी समय पाकर अपनी श्याल-वधू के समीप पहुँचते हैं, श्री सिद्धिजी सानुज श्री रामजी के तपस्वी-वेष को देखने में सक्षम न होने के कारण शोकाकुल हो धड़ाम से पृथ्वी पर गिर गई। मूर्छापन्न श्री सिद्धि कुँअरि जी को श्री चित्राजी प्रकृतिस्थ करती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (स्मृति आने पर श्री रामजी के चरणों में लिपट कर) हाय ! हाय !! यह क्या देख रही हूँ ? क्या स्वप्नावस्था का चित्र, चित्त-भीति पर चित्रित हो गया है ? अरे ! अरे यह स्वप्न नहीं है, यह जाग्रतावस्था का चैतन्य चित्र है, जो समस्त स्थूल-इन्द्रियों का विषय बन रहा है। हाय ! मेरा हृदय विदीर्ण क्यों नहीं हो रहा है ? हाय ! नेत्र न जाने श्याम सुन्दर को तपस्वी-वेष में देखकर फूट नहीं रहे हैं। हाय ! प्राण-पखेरू भी इस वपुष के पंजर से उड़ने का नाम नहीं ले रहे हैं। हाय ! हाय !! मेरी आत्मा के शत-शत टुकड़े क्यों नहीं हो रहे हैं। हाय ! हाय !! कष्ट ! महाकष्ट !!

[रोती हुई श्री सिद्धिजी पुनः मूर्छित हो जाती हैं। श्री रामजी सचेत करते हैं।]

श्रीरामजी : (सप्रेम) कुँअर-कान्ते ! आप इतनी अधीरता के साथ आत्मा को क्यों अनुतापित कर रही हैं? मुनियों के वेष में वन का विशुद्ध-वैहारिक जीवन मेरी इच्छा के अनुवर्तन का परिणाम है, इसमें मुझे सुख की समनुभूति सर्वभावेन संप्राप्त हो रही है, आप तो मेरी इच्छा को अपनी इच्छा और मेरे सुख को स्वसुख सदा से समझती चली आ रही हैं। अहो ! आपके निर्मल-प्रेम एवं तत्-सुख-सुखित्वम् के भाव से की गई सेवा का वास्तविक मूल्यांकन कभी किसी से हो ही नहीं सकता अस्तु, हम आपके ऋणी हैं फिर इतने अनुताप से अभिभूत होकर दुःख-मूर्ति क्यों बन रही हैं आप ? आपकी यह दयनीय-दशा मेरे मन का मंथन कर, लगता है मुझे अपने में आत्मसात न कर ले अतएव आप मेरे लिये धैर्य का अवलम्बन लें।

श्री सिद्धिजी : (अश्रु भरकर) आर्य-पथ को अलंकृत करने वाले आर्य-श्रेष्ठ-रघुनन्दन ! विश्व की यावदीय विभूतियाँ हो गई हैं, हैं, और होंगी वे सबकी सब आप श्री के समक्ष पराभवीय-विभूतियों के नाम से मनीषियों के मंडल में उद्घोषित की जायेंगी। अस्तु, आपकी विवेक पूर्ण वचनावली आप श्री के स्वरूपानुरूप ही है। श्यामसुन्दर ! अवश्यमेव आप श्री की इच्छा ही किंकरी की कामना है और प्यारे का सुख ही सच्चा-सुख है, जानती हूँ, समझती हूँ किन्तु क्या कहूँ ? ये आँखें आप श्री के रूप-रस की रसिकिनि हैं, इन्हें आपके तपस्वी-वेष से विरोध है, इनको तो नख-शिख-पर्यन्त-वस्त्राभूषणों से विभूषित श्याम-वपुष के दर्शन करने का अभ्यास है। अपने इष्ट के अतिरिक्त अन्य विशेष-वेष का दर्शन इन अनन्या आँखों को अरुचि और अनुताप उत्पन्न करने वाला है। हाय ! हाय !! क्या करूँ ? ऐ मेरे प्रियतम ! आपकी किंकरी आप श्री के अनुकूल विषय

को प्रतिकूल समझने का अपचार कर रही है। हाय ! हाय !! मेरे कुटिल-कर्मों का परिपाक है यह जानती हूँ मैं किन्तु भोग-काल में करुणा-क्रन्दन करके परित्राण पाने की कामना कर रही हूँ हाय ! मुझसे अधम और अभागिनी कौन अबला होगी जिसके ऐसे ननँद-ननदोई बिना पद-त्राण पाँव-पयादे वन-वन परिभ्रमण करते होंगे ? हाय ! प्रेमियों के प्रपीड़न और विनाश में बुरी तरह प्रवृत्त ब्रह्मा से मेरा आनन्द सह्य न हो सका। हाय ! हाय !! मेरा सर्वस्व लुट गया।

[हाय ! हाय !! कहकर पुनः मूर्छित हो जाती हैं।]

श्रीरामजी : (सचेत करके) प्रेम-मूर्ते ! आप प्रेम का रहस्योद्घाटन करके प्राणि-मात्र के हृदय-पर्वत से प्रेम की सरिता संप्रवाहित करके, केवल सब की शरीर-भूमि का सम्यक-सिंचन करने वाली स्नेह की सनातन स्त्रोत-स्थली ही नहीं प्रत्युत प्रत्यगात्मा के प्रेम-स्वरूप का प्रदर्शन सबके नेत्रों का विषय बना देने वाली प्रेम की अखंड प्रतिमा है। आपका राम अपने रामत्व का सर्व समर्पण करके, आपके सर्वदा अधीन बने रहने ही में अपना गौरव समझता है। आप श्री को मेरी बन-लीला अनुत्साह एवं अनुताप उत्पन्न करने वाली है क्या ? मेरी प्रत्येक चेष्टाओं में क्या आप सुखी नहीं रहना चाहतीं। अहो! वैधानिक बातें चाहे वैचित्र्य और वैलक्षण्य से युक्त न हों किन्तु उनके श्रवण तथा तत् तच्चेष्टा करने में कोई भी धर्मानुरागी-मानव परम प्रसन्न रहता है फिर रघुकुलोत्पन्न-दाशरथि राम को तदनुसार चेष्टित न रहना, संसार को अशिक्षित, अनाचारी स्वेच्छाचारी और उच्छृङ्खल बनाकर असमय में प्रलयोन्मुख कर देना है। अस्तु, स्वरूपानुरूप-स्वधर्म को सम्मुख करके वन-वासियों का वेष धारण कर लेना तथा तद्नुसार मज्जन, अशन, शयन, शिष्टाचार एवं तपश्चर्या को अपनाकर कामद-वन का बिहारी बन जाना स्वान्तः सुखाय एवं सर्वभूत हिताय ही हुआ है आप चिन्ता न करें कुछ काल के पश्चात पुनः सिद्धि-सदन के अन्तःपुर में मुझे अतिथि-रूप में देखेंगी। आध्यात्मिक-जगत में मेरा संदर्शन कर-करके वाह्य-जगत के दर्शन न पाने का क्लेश अवधि पर्यन्त सहन करें, यही आपसे मेरा अनुरोध और आग्रह है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) धर्म-मूर्ते! दासी आपके मस्तक में अधर्म का कलश रखकर नरक में भी स्थान न प्राप्त कर सकेगी। मैं कब कहती हूँ कि मेरे ननदोई ने औचित्य का अनादर किया है। हाय ! हाय !! आप श्री के औचित्य ने केवल किंकरी को ही नहीं अपितु समस्त अवध-मिथिला को अनाथ का अनाज बनाकर वियोग की वह्नि में भर्जन कर दिया है। हाय ! कौशल-नरेश तो कौशल-किशोर के इस औचित्य को सहने में सक्षम न हो सके और उनके प्राण अमरपुर-प्रयाण कर गये। हाय ! मेरी छाती तो वज्र को विलज्जित करने वाली बड़ी कठोर है। लज्जा का आचमन करके बड़ा व्याख्यान झाड़ रही हूँ और धैर्य की धुरी बन रही हूँ हाय! प्रियतम के कमल-कोमल-चरण बिना पद-त्राण के कंटकाकीर्ण-कँकरीली-भूमि में चलें और श्रवणकर, देखकर प्रेमियों की पंक्ति में बैठने वाली आपकी सरहज के हृदय में सिहरन व कसक न उत्पन्न हो। हाय ! हाय !! अयोनिजा के प्रेम से भी मैं असम्पृक्त हूँ। हाय ! इस पाषाण-हृदय को कब से ढोये चली आ रही हूँ। हाय ! मेरे प्राणों के प्राण ! आपके इस वन-गमन की गाथा सुनकर मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों नही हो

गया। हाय ! वन में वनवासी-वेष से विहरते हुये कनक-भवन-बिहारी को देखकर भी प्राणों का उत्क्रमण क्यों नहीं हो रहा है .....

[हाय ! हाय !! कहकर सिर धुन-धुनकर रोती हुई छाती पीटती हैं और अत्यन्त विकलता के कारण अचेत हो जाती हैं।]

श्री रामजी : (सिद्धिजी को सचेत करके, साश्रु) विरह-दीप्तिते ! प्रेम-कातर प्राणियों को विरह के वाण जब बींधते हैं तब ज्ञान-तन्तुओं का कार्य विरमित हो जाता है क्योंकि प्रेम की उच्चतम-स्थिति में त्रिपुटी के विलीन होने पर कौन किसका ज्ञान करे, अर्ध-चेतनावस्था की बोधोत्पत्ति अधूरी और अल्प होती है तथा प्रकृतिस्थावस्था में ज्ञान हुआ तो यही ज्ञान होता है कि चिरकाल से हमारा प्रेमास्पद हमसे वियुक्त है। उक्त स्मृति के आते ही पुनः वियोग की व्याधि से ग्रस्त होकर विरही-लोग स्मृति-शून्य हो जाते हैं। आप श्री को इसी अवस्था ने वरण किया है हाय ! हमारे लिये तो आप धैर्य को धारण करें अन्यथा मुझे भी विस्मृति के गर्त में गिरना पडेगा। मेरा वन-परिभ्रमण एक असाधारण-प्रसंग है, मैं अनुकूल समय की अप्राप्ति में उसके चित्र का चित्रण कला-कृतियों के साथ अभी अपेक्षित-समय में नहीं दे सकता। सुन्दर समय आने पर आप स्वयं मेरी कृति की सराहना करेंगी।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) जीवन-धन! आप प्राणों के प्राण, जीवों के जीव तथा सुख के सुख हैं। आपकी लीला अतर्क-मनसागोचर है। अभी-अभी मूर्छापन्नावस्था में अपने ननँद-ननदोई के साथ सिद्धि-सदन के प्राङ्गण में नित्य-नित्य की नव-नव लीलाओं का दर्शन कर रही थी मैं। श्याल-भाम की मंजु-मनोहर-मूर्ति मेरे मन को मुग्ध करती हुई संग-संग मज्जन-अशन और शयनादि की अष्टयामीय-लीला में संलग्न थी। आँख खोलने पर वन-लीला के अनुरूप आपके वेष का दर्शन करते ही नेत्र, नीर की वृष्टि करके संसृति की सृष्टि करने लगते हैं और बन्द करने पर मिथिला-बिहार की अनेक झाँकियों का दर्शन करके सुख-समुद्र में निमज्जन करने लग जाते हैं। नटवर का नाट्य निर्भीक ही दर्शन करने में सक्षम हो सकते हैं, मुझे तो यह आपका वनवासी-वेष भय और भ्रम उत्पन्न कर रहा है। हाय ! हाय !! कहाँ मार्ग की अगमता और कहाँ कुसुम-कोमल शरीर की सुकुमारता! हाय ! हाय !! छाती फटी जा रही है। हाय ! क्या करूँ? राघव ! यह वेष आँखों का विषय बनकर मुझे आपकी चरण-सेवा के लिये जीने न देगा क्या ? अहो ! जीवन-समाप्ति के पश्चात भी आपके वन-प्रवेश की लीला का तथ्य समझती हुई, आपकी दासी असंतोष का ही आलिंगन करेगी।

[अत्यन्त विकलता से हाय ! हाय !! कहकर पुनः मूर्छित हो जाती हैं।]

श्री रामजी : (साश्रु) कुँअर-कान्ते ! माधुर्य की मन-मोहिनी मिठास की अनुभूति की अभ्यासिनी-आँखे अवश्यमेव ऐश्वर्य की ओर दृष्टिपात करने में अकुशल होती हैं, आप श्री को मेरा वनवासी-वेष नेत्र-रोग के समान अरुचिकर और आपत्तिकर प्रतीत होता है, यह आपके हार्द-भाव एवं स्नेह के अत्याधिक्य का अनुमान लगाने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं आपकी इस प्रेम-भेंट का प्रत्युपहार देने के लिये अन्वेषण करने पर अपने समीप तदर्ह वस्तु का अभाव ही पाता हूँ अतएव आपका ऋणी हूँ। आप अपनी इच्छानुसार

मेरे स्वरूप का सन्दर्शन ज्ञान की आँखों से समय-समय पर करती रहेंगी। चतुर्दश-वर्षीय-वियोग का अन्त आपके समक्ष शीघ्रातिशीघ्र-समुपस्थित होगा, समय का सम्मान करें और वियोग में योग की अनुभूति करके संसार के लिये प्रेम-प्रशिक्षण की पाठशाला बनें ताकि इस महान-विद्या का प्रचार और प्रसार विस्तार-भाव को प्राप्त हो। प्रेम-किरणों से सिद्धि नामक किरण माली का प्रकाश अनेकानेक अण्डों को आलोकित करता रहे, राम की आप से यही स्नेह-याचना और कामना है।

श्री सिद्धिजी : प्रियतम ! योग में वियोग की स्मृति जब प्रेमिकों को प्रेम-वैचित्र्य के वन में विहार करने के लिये बरबस बाध्य कर देती है तब वास्तविक वियोग में विरह की दशो-दशायें वियोगियों का वरण करके उनके प्राणों को उनके प्रीतम के सन्निकट अवश्य पहुँचा देती होंगी, जानकर किंकरी के लिये धीरज-धरने का एक मात्र यही उपाय है। अन्यथा अधीरता की होली में कूदकर प्राण-पखेरू कब के जल गये होते। प्रेम-प्रकाश, प्रेम के परम प्रशिक्षक और प्रेमास्पद तथा प्रेमिक आप श्री ही हैं। दासी वास्तव में अकिंचित वस्तु है। सम्पूर्ण-भूतों में संप्रवृष्ट होकर स्वेच्छा से सबको मनमानी नाच-नचाने वाले नटवर तो आप ही हैं, अस्तु, किंकरी भी आप श्री के संकेत से वैसा ही नाच नाचेगी जैसे सूत्रकार के संकेत से काष्ठ-कामिनी ! अन्तर्यामिन ! दासी के अंतःकरण के सूक्ष्मतिसूक्ष्म उन भावों को भी आप भली-भाँति जानते हैं जिन्हें मैं अकिंचित जान पाती हूँ, अस्तु, विशेषज्ञ के समक्ष विशेष-वार्ता का कथन पिष्टिपेशण मात्र है किन्तु प्रेरक की प्रेरणा से अपनी अभिव्यक्ति आप श्री के समक्ष रखनी ही पड़ी।

श्री रामजी : निमि-कुल-नारि-शिरोमणे ! कुलानुरूप-विवेक का आश्रयण लेकर मन के संतुलन को सदा सही बनाये रखना चाहिये। विरह की वह्नि में भस्मीभूत होने से अपने को बचायें क्योंकि आप अपनी वस्तु नहीं हैं, मेरी हैं, मेरी वस्तु विनष्ट न होने पाये, उसकी सुरक्षा करना स्वरूपानुरूप आपका कैंकर्य होगा। प्रेमियों के स्मरणीय-चरित्रों की स्थल-तालिका में प्रथम आपका नाम अंकित है, यह मैं अपने अन्तर के सत्य का दर्शन करके कह रहा हूँ, अस्तु, तदर्ह मेरे वचनों का आदर करें।

श्री सिद्धिजी : भक्त-कुल-कमल-दिवाकर ! ज्ञान-शिरोमणि, ब्रह्म-विद-वरिष्ठ हमारे श्वसुर देव जब आपकी मनोह्रारिणी-मूर्ति का दर्शन पाते ही, ज्ञान की गठरी गिराकर पतिङ्गे की भाँति आपके रूप-दीप में कूद पड़े और प्रयत्न करने पर भी विवेक के सहारे अपने को बचा न सके तब रूप-रागिनी अबला जिसने आप श्री के दर्शन-स्पर्शन और कैंकर्य के अतिशयानन्द का अनुभव किया है, वह कैसे विवेक के बल से आपकी विरह-वह्नि से अछूती रह सकती है ? चिरस्मरणीय आपकी शिक्षा का समादर करती हूँ किन्तु हृषीकेष एवं उर-प्रेरक की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही तो दासी प्रकृत्यानुसार चेष्टा करेगी।

श्री रामजी : विरह-कातरे ! विचार करने पर आपका अन्तर्यामी आपके हृदय-प्राङ्गण में प्रमोद-वन की तरह ही विहार करता है। आपका और उसका वियोग असंभव है। विरहेक्षणा के बाहर भी वही सर्व-भूतात्मा सृष्टि-स्वरूप से संप्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, अस्तु वियोग की वैकल्पिक भावना, ज्ञानियों के ज्ञान-दृष्टि से अमृतार्णव में प्रविष्ट होकर, मृत की कल्पना करके शोक-सागर में समाविष्ट हो जाने के

समान है। आप धैर्य धारण करें ताकि चौदह-वर्ष के पश्चात पुन-पूर्ववत् आनन्द का आदान-प्रदान हम दोनों के बीच होता रहे। ठीक है न ?

श्रीसिद्धिजी : ज्ञान-मूर्ते ! आपका ज्ञान अखण्ड और अबाधित है, आप स्वतन्त्र स्वराट् हैं। मैं अल्पज्ञ और आपके अधीन हूँ, आप श्री के जनाने से यह जानती हूँ कि शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गंध,मन, बुद्धि और अहं नामक अष्ट-प्रकृति-विकृतियाँ ही आपकी प्रधान अष्ट-सखियाँ हैं और पंच महाभूतों से युक्त एकादश इन्द्रियाँ ही उप-प्रधान सोलह सहेलियाँ हैं। आप श्री ही अनन्तानन्त रूप होकर, अनन्तानन्त सखियों के साथ रास-क्रीड़ा कर रहे हैं। आपकी इस रास-केलि की कला का ज्ञान न रखने वाले देहाभिमानी आप की रास-स्थली एवं रास को जगत व जगल्लीला कहते हैं, आप समेत आप की लीला उनकी आँखों के सामने आविर्भूत होकर भी तिरोहित ही रहती है।

श्री रामजी : विरहेक्षणे ! जब आपको जीवन के महत्वपूर्ण अनुभव की अनुभूति है तब आपको अपने ज्ञान के अनुसार मेरे वियोग का स्मरण कर स्मृति-शून्य न होना चाहिये। वास्तव में मैं आपसे पृथक नहीं और न आप मुझसे।

श्रीसिद्धिजी : मनमोहन ! उक्त ज्ञान अस्थाई है, आपका रूप-लावण्य सारे ब्रह्म-ज्ञान की धवलता को धूल-धूसरित ही नहीं कर देता अपितु उसका अस्तित्व मिटाने में संलग्न हो जाता है। जब आप स्वयं दर्श-स्थित स्वरूपानुरूप अपने प्रतिबिम्ब का सम्प्रेक्षण करके संमोहित हो जाते हैं, अपने ज्ञान को भुलाकर उसका आलिङ्गन और चुम्बन करने लगते हैं और दर्श दूर कर देने पर वियोग का अनुभव कर-करके विकलता की व्याधि से युक्त हो जाते हैं तब आप श्री के सौन्दर्य-सार-स्वरूप का दर्शन-स्पर्शन करके सम्यक्-सुख के सुधा-सिन्धु में समवगाहन करने वाली सिद्धिकुँअरि को शिक्षा देकर ज्ञान के कँटीले-वन में विहार करवाना आपका अनौचित्य नहीं तो क्या ? रसाल वन में विहार करने वाली कोकिल को सर्वत्र काष्ठ का संप्रदर्शन कराकर करील के वन में भटकने का पाठ पढ़ाना नीरस-हृदय को भले मान्य हो किन्तु किंकरी की बुद्धि में आपके उपदेश-ग्रहण करने की क्षमता ही नहीं है।

[शिरसा प्रणाम करके बात काटने के अपराध को क्षमापन करवाती हैं।]

श्री रामजी : प्रेम-पंडिते ! प्रेम के रहस्यार्थ को केवल समझने वाली ही नहीं हैं आप, प्रत्युत तदर्थ की मनोहर-मंजु-मूर्ति हैं, प्रेम की पयस्विनी हैं, नेह की नवल-नायिका हैं और प्रणय में प्रवीण अनुराग के अप्रतिम आगार की अट्टालिका हैं। महाभाव के भवन में अनवरत बिहार करने वाली एवं विश्व-वन्द्या-पराभक्ति के प्रतिनिधित्व का कार्य सम्पादन करने वाली हमारी श्याल-वधू ! हमें आप अपने आधीन समझें, हम आपके अनुशासन के अन्तर्गत हैं, हमें वह शक्ति नहीं कि जिससे आपके प्रतिकूल आचरण करने में सक्षम हो सकें अतएव आपसे सनम्र अनुरोध है कि आप अपनी आँखें अल्प-समय के लिये झाँप लें तत्पश्चात् आपके निर्देशानुसार आपका ननदोई अपना निश्चय अवश्य करेगा। समय परिवर्तनशील है, वह अक्षुण्ण, एक रस नहीं बना रहता, अस्तु, इस अखण्ड-ज्ञान को धारण करने वाली मेरी श्याल-वधू को भी समय का सम्मान करना ही चाहिये।

श्रीसिद्धिजी : (आँखें बन्दकर पुनः खोलकर साश्रु) लीला-प्रिय ! श्याम-सुन्दर! समुद्र में लहरों का उठना जैसे स्वाभाविक है वैसे ही आप श्री में अनवरत अनेकानेक लीलाओं का उदय और अस्त एक साथ होना आगन्तुक नहीं है। आपकी लीला-शक्ति अपने संकेत के सहारे आपको भी लीला करने के लिये बाध्य करती है। आश्चर्य ! आश्चर्य !! यह मैंने आँख बन्द करके भली-भाँति जान लिया कि लीला-शक्ति का अचिन्त्य-सामर्थ्य आपको भी उसके इयत्ता का अन्वेषण करते समय पुनरावर्तन करके स्व-स्वरूप में स्थित कर देता है। हाय ! लीला-शक्ति के आदेश से आपको वन में ही निवास करना होगा। हाय ! मैं सोची थी कि यदि आप श्री अयोध्या वापस नहीं पग धारेंगे तो हम दम्पति आपके साथ वन में ही रहकर आपकी सेवा करेंगे किन्तु आशा, निराशा के रूप में परिवर्तित हो गई। हाय ! हाय!! विरह बधिक अपने बाणों से बिना बींधे किंकरी को छोड़ने वाला नहीं है। हाय ! मेरे ननद ननदोई के कमल-कोमल-चरण कण्टकाकीर्ण-वन-पथ में चलते समय काँटों से बिंध जायेंगे, रक्त-श्राव करेंगे ! हाय ! हाय !! प्रियतम के इस कष्ट की स्मृति मेरे शरीर-वृक्ष से प्राण-पुष्पों को उतारकर प्यारे श्याम सुन्दर के चरणों में अभी-अभी क्यों नहीं समर्पण कर देती। हाय ! वज्र भी विलज्जित हो गया, मेरे कठोर-हृदय को स्पर्श कर।

[हाय ! हाय !! कहती और छाती पीटती हुई सिद्धि कुँअरिजी स्मृति-शून्य हो जाती हैं, श्री रामजी सचेत करते हैं।]

श्री रामजी : (सचेत करके)विरह-दीप्तिते ! मेरा इष्टानिष्ट ही आपका प्रियाप्रिय था, अस्तु मेरी इच्छानुवर्तिनी-लीला-शक्ति के संकेतानुसार आपको भी मेरी लीला में सहयोग देना अनिवार्य और आवश्यक है। आप अपने हृदय में चित्त की आँखों से हमारा दर्शन सर्वथा करती रहेंगी ।अप्रकट-रूप में मैं आपके भवन से कभी एक पद जाने की सामर्थ्य नहीं रखता। आप मेरे हृदय की हर्षिणी हैं अतएव मेरा मन्तृत्व-कार्य आपका अनुमन्तृत्व होना ही चाहिये। अतीन्द्रिय और अलौकिक ज्ञान का विषय होने के कारण धर्म के विषय में बड़े-बड़े शास्त्र-वेत्ताओं की बुद्धि भी चक्कर काटने लगती है किन्तु आप जैसी सूक्ष्म-दर्शिनी का दर्शन अवश्य मेरे अनुरूप होगा यह मुझे महा विश्वास है। कहिये क्या करूँ?

श्रीसिद्धिजी : आर्य-श्रेष्ठ ! आप श्री से आर्य-पथ का अतिक्रमण न कभी हुआ है और न भविष्य में होने वाला ही है। आप अपनी लीला-शक्ति का दिया हुआ पाठ पढ़ें और यह किंकरी आपके प्रिय के लिये आपके स्वर में स्वर मिलाकर कठ-पुतली की भाँति सूत्रधार के संकेत से नाचेगी।

पद : प्यारे ! नाचूँगी मैं नाचूँगी।

तिहरी लीला शक्ति सहारे, सही पा ठ मैं बाचूँगी ।
रघुवर स्वर में स्व स्वर मिलाके, गाय प्रेम को याचूँगी ।
सूत्रधार आधार ते नाचति, पुतली सम मैं माचूँगी ।
हर्षण विरह-वह्नि में झुलसत , श्याम रंग में रांचूँगी ।

[हिचक-हिचक कर रोती हुई श्री रामजी के चरणों में गिर जाती हैं।]

श्री रामजी : (उठाकर, आर्द्र नेत्र से) विरहातुरे ! आपकी सूक्ष्म-बुद्धि, विशुद्ध, वैशद्य, वैलक्षण्य और वैशिष्ट्य से सम्प्रयुक्त हैं।आप प्रेम-पंडिता है अतएव प्रेम-रहस्य को भली-भाँति समझती हैं। प्रेम के शात-कुम्भ का नितान्त-निखार विरह की वह्नि में छोड़ने से ही होता है, अस्तु आपको प्राप्त समय का सम्मान करना चाहिये। सब विधि हमारी और आपकी भलाई वियोग के चौदह-वर्षों को अपनाने में ही है। कहिये इस विचार से आप अभिमत हैं न ? संकोच छोड़कर आप अपने हृदगत-भावों को व्यक्त करें तदनुसार मैं उत्तर कार्य का परिशोधन कर सकूँ ? मुझे अन्य लोगों से भी मिलना शेष है। कहें तो मैं उसका उचित निर्वाह कर लूँ।

श्रीसिद्धिजी : मेरे गति रघुनन्दन ! किंकरी अबोध है, इसमें यदि यत्किंचित-प्रकाश परिभासित होता है तो वह आपका है, आप श्री से ही प्रकाशित हैं और आप ही के उपयोग के लिये है। आप श्री के संकल्प को परिवर्तित करने की क्षमता जब विधि-हरि-हर एवं काल में भी नहीं है तब दासी उसमें न नु नच कैसे कर सकती है। समय के सम्मान करने का सुझाव श्रेष्ठतम है किन्तु उसके करने कराने का उत्तरदायित्व आप पर ही है। आपकी परतन्त्र किंकरी पर नहीं। आप श्री मेरी सासुजू के समीप जाना चाहते हैं, प्रसन्नतापूर्वक पधारें मैं भी आपका अनुगमन कर उनके वास-स्थान, सेवार्थ साथ साथ चलती हूँ।

[दोनों सुनैनाजी की पर्णशाला के लिये प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

\- - - - - -

एक षष्टितमः दृश्यः ६१

[श्री विदेहराज-नन्दिनीजू के समीप, श्रीसिद्धि कुँअरिजी अपनी सखियों के साथ मिलने जाती हैं। पर्ण-शाला में श्री माण्डवीजी, श्री उर्मिलाजी, श्री श्रुतिकीर्ति जी तथा अन्य सखी-सहेलियों के बीच तपस्विनी वेष में श्री राजकिशोरीजू को देखते ही सहमकर साश्रु-कम्पित-वदना श्रीसिद्धिजी पछाड़ खाकर पृथ्वी में गिर पड़ती हैं, स्मृति शून्य हो जाती हैं। श्री किशोरीजी देखते ही दौड़कर भाभी भाभी कहती हुई स्पर्श करती हैं और साश्रु सचेत करने की चेष्टा करती हैं।]

पद : जागहु, जागहु भाभी हमारी

होई प्रकृतिस्थ भेंटि उरलाई, आनन्द देहु अपारी।

तिहरे मुख के बैन सुनन हित, ललचत ननद तुम्हारी।

आँख खोलि लखि लेहु किशोरिहिं,जेहि बिनु रहिउ दुखारी।

हर्षण हर्ष को काम कियौं मैं, पिय संग रहउँ सुखारी।

श्री किशोरीजी : (श्रीसिद्धिजी के कुछ सचेत होने पर,साश्रु, हृदय से लगाकर)भाभीजी ! भगवान-भूत भावन की बडी कृपा हुई जो आज आपका भर-नेत्र दर्शनकर रही हूँ। हाय ! वर्तमान समय में विधाता का कितना प्रचण्ड प्रकोप है। हाय ! हाय!!

जिसकी क्रोधाग्नि की चिनगारियों ने हमारे नेत्र–प्रिय नैहर को भी बिना जलाये न छोडा। हाय ! परिणाम में आज अपनी भ्रातृ–वधू के सुन्दर–सुविकसित मुखाम्भोज का अदर्शन कर रही हूँ। हाय ! हाय ! ! भाभी का यह मुरझाया हुआ विवर्ण–वदन, वैदही से नहीं विलोका जा रहा है। हाय ! क्या करूँ? भाभी जी धैर्य धारणकर शान्ति का समाश्रयण करें, व्याकुलता के बीहड़–वन में न भटकें, अपनी ननद की प्रसन्नता के लिये परस्पर सामयिक–चर्चा करके समय का सम्मान करें। भैया के कृश–शरीर का अवलोकन करते ही आपकी कृशता का चित्र मेरे चित्त –पटल पर चित्रित हो गया था। हाय ! यष्टि के समान भूमि में गिरकर भूमिजा की भाभी अपनी व्याकुलता से वैदेही को विभोर बना रही है। हाय ! हाय !! निर्लिप्त एवं निर्दय ब्रह्मा के हृदय में नाम मात्र की दया का कोष, विस्तृत–वसुन्धरा के किसी जीव को दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

[श्री किशोरीजी, श्रीसिद्धिजी को खूब हृदय से लिपटाकर अपनी अश्रुधारा से उनका अभिषेक कर रही हैं। सिद्धिजी भी श्रीकिशोरीजी को हृदय से लगाये रोती हुई, हा ! प्राण–संजीवनी ! हा! किशोरीजी ! कह रही हैं। दृश्य बडा ही करुणापूर्ण है श्री किशोरीजी की सब बहनें तथा श्रीसिद्धिजी की सखियाँ रो रही हैं।]

श्रीसिद्धिजी : (कुछ देर पश्चात्, धैर्य–धरकर) हे श्री लाड़िली जू ! आप अपनी भाभी के पापों के परिपाक–काल में ही सानुज श्री रामजी के साथ वन में निवास करने आई हैं। हाय ! विधिना ने पाप–पुंजों के परिणाम को भोगने के लिये सह्य–शक्ति भी प्रचुर मात्रा में मुझे प्रदान की है। हाय ! वनवास की कहानी सुनकर कर्ण बधिर नहीं हुए । हाय! आप श्री का वनवासी–वेष देखकर मेरे नेत्र फूट नहीं गये। हाय ! हाय !! हृदय विदीर्ण होकर टुकड़े–टुकड़े नहीं हो गया। हाय ! स्मृति भी कम सहायता नहीं कर रही है, विस्मृति की गोद दुर्लभ है मुझको जिसमें सोकर शान्ति का सुअनुभव करती । हाय! हाय !! प्रेमिकाओं की तरह बात करने में मुझे लज्जा भी नहीं लग रही है। क्यों जी रही हूँ मैं ? जब युगल–किशोर की कैंकर्य अप्राप्त है तब इस शुष्क हृदय वाले श्रमित शरीर को क्यों ढोये चली जा रही हूँ ? हाय ! हाय !! मेरी लाडिली ननद के कमल–कोमल–चरण कंकरीली और कंटकाकीर्ण वन–भूमि में बिना पद–त्राण के चल रहे हैं। हाय ! हाय !!

[कहकर छाती में पाणि–प्रहार करती हैं, रोती–रोती विस्मृति की शय्या पर सो जाती हैं। श्री किशोरीजू स्पर्श कर करके सचेत करने की चेष्टा करती हैं।]

श्री किशोरीजी : (सिद्धिजी के सचेत होने पर, साश्रु)भाभीजी ! आर्य–श्रेष्ठ आपके ननदोई ने आर्य–धर्म पुरःसर करके वन में निवास करने का दृढ़निश्चय किया है उनका अनुगमन करना आर्य–नारी के अनुरूप होने के कारण आप श्री की ननद को भी वन में वास करना रसायन के समान बहुत ही रुचिकर लगा, आप अपने ननद–ननदोई की इच्छा को अपनी इच्छा एवं उनके सुख को निज का सुख सदा से समझती चली आ रही हैं अतएव धैर्य–धारणकर समय का सम्मान करें। समय जाते देर न लगेगी, हम लोग अवधि पूर्ण होने के पश्चात् पुनः पूर्ववत उभय–पुर में विहार करेंगे। आनन्द की विपुल–वर्षा से युगल–पुरियाँ आनन्द–सिन्धु में निमग्न हो जायेंगी। जब विस्तृत वसुन्धरा का विशाल वैभव

मिथिला और अवध में आकर अपना आवास बना लेगा तब भी उसकी भव्यता और नव्यता स्नेहाधिक्य के कारण नेत्रों से हम लोग न देख सकेंगी।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) भर्तृ–प्रिये ! आप श्री के समुज्वल–कार्य की कीर्ति, विधु एवं विबुध–नदी की कीर्ति को विलज्जित करने वाली है, ऐसा सभी सिद्धों, मुनियों और मनीषियों के मुख से सुना गया है। हाय ! यह वन–गमन आपके स्वरूपानुरूप है, जानते हुये भी मेरे नयन अपने विषय की अप्राप्ति में व्याकुल बने हुये ज्योति–हीन हो रहे हैं। हाय! हाय !! हृदय को गतिशील बनाने वाली शक्ति से पृथक होने पर भी हृदय गतिशील बना रहा। आश्चर्य ! महा आश्चर्य !! अरे ! परत्व, सौलभ्य और अलौकिक–सौन्दर्य नामक तीनों विभूतियों की समन्वित, अतीन्द्रिय–अनुभूति ही तो "आनन्द" है जो आत्मा को आलोकित और आह्लादित करती है। श्रीराम और सीता में उक्त तीनों की पृथक–पृथक और एकत्र पराकाष्ठा ने उन्हें पुरुषोत्तम–नारीणामुत्तमावधू, विष्णु– लक्ष्मी, ईश्वर–ईश्वरी, ब्रह्म–शक्ति आदि अभिधानों से विभूषित किया है और वे दोनों वेद के रहस्यार्थ, मानवीय–संस्कृति, काव्य–कला और दार्शनिक, तत्व–चिन्तन के अक्षय प्रेरणात्मक भंडार बने हुये हैं। हाय ! हाय!! ऐसे युगल–किशोर को प्राप्तकर अब उनसे पृथक होने का पाठ पढ़कर विवेकियों की पंक्ति में बैठूँ । हाय ...!

[अधीर होकर रोने लगती हैं....]

श्री किशोरीजी : विरहेक्षणे! आपकी जीवन–ज्योति, जगदात्मा की ज्योति के स्पर्श से जल रही है और वह इसीलिये कि आप अपने ननद–ननदोई को स्वसुखाप्त्यर्थ सुख–स्वरूपिणी और अद्वितीय सुन्दर–वस्तु प्रतीत होती हैं अन्यथा आपकी प्रेमोत्कृष्ट–परिस्थिति हम लोगों को चिन्ता–जनक ही सिद्ध होती।

श्री सिद्धिजी : नेत्र–प्रिये ! भाभी के भाग्य को आपने अपनी अहैतुकी–अनुकम्पा से कितना समुन्नतशील बनाया है। अहो! किंकरी को आप दोनों अपनी सुख–संविधायिनी स्व–वस्तु समझते हैं और तदनुसार सुख संग्रहण करने की चेष्टा करते हुये अपने विकसित मुखाम्भोज के प्रदर्शन से मुझे भी सुख के सिन्धु में संलीन किये रहते हैं। आश्चर्य ! निरतिशय औदार्य का कोई सीमांकन नहीं। हाय ! मेरे संकीर्ण–संस्कार एवं विचार किसी भी विदुषी, आर्य–नारी के अनुरूप नहीं हैं मैं कृतघ्ना हूँ कृतघ्ना । हाय ! हाय !! ऐसे महोपकारक नृपति नन्दिनी–नन्दनजू के तपस्वी–वेष को देखकर धैर्य–धारण करने में हिमालय बनी हुई हूँ।

[हाय ! हाय !! कहकर पुनः अधीरता से रोती हुई व्याकुल–वदना हो जाती हैं।]

श्री माण्डवीजी : (साश्रु) भाभीजी ! हमारी ओर देखकर धैर्य–धारण करें, विधिना ने श्री सीता रामजी का विरोधी प्रकट कर आपके मझले ननदोई के महनीय मस्तक में कुटिल–कामना के कलंक का काला टीका लगाया है। हाय ! हम लोग न होते तो हमारी सासु किसके लिये राज्य माँगती और अकारण ही श्री रामजी महाराज के शिर से छत्र उतरवाकर सिंहासन से उन्हें क्यों उतारतीं ? हाय ! मुखयतः श्री रामजी के वन–गमन का कारण कैकई जी के कुक्षि से होने वाले कुमार ही सिद्ध होते हैं। लौटाने के लिये आये हुये कैकई–कुमार की प्रार्थना पर ध्यान दिया जायेगा, ऐसा विश्वास अपना नैच्यानुसंधान

करने से हम लोगों को नहीं हो रहा है। हाय ! फिर भी जी रहे हैं और यह सब अपनी आँखों से देख रहे हैं। कलंक की अभिव्यक्ति संसार में कैकई-नन्दन को अनेकानेक अभिव्यञ्जनाओं से अभिव्यञ्जित करती होगी। क्या करूँ? हाय ! हाय !! अन्तर्यामी श्री सीतारामजी की शरणागत-वत्सलता एवं शील-समन्वित सर्व-समर्थ शक्तिमत्ता ने ही हम लोगों को अलौकिक आत्म-आराध्य के चरणों में आश्रय दे रखा है अन्यथा नरक भी नाक सिकोड़कर बैठने को ठौर न देता अहो! हमारे भ्राता और भाभी को तो परमेश्वर ने राम-प्रेम की प्रतिमा बनाया है, जिसे सुनकर, देखकर और स्पर्श करके श्री राजकिशोरी-किशोर सुख के सिन्धु की समनुभूति करने लगते हैं। अहो! अनुभव करने में उन्हें कैसी कमनीय और उत्तम-स्थिति संप्राप्त होती होगी? इसका उत्तर स्वयं युगल-किशोर नहीं दे सकते क्योंकि वह अनिर्वचनीय अनुभव गम्य स्थिति है अतएवं आप धैर्य-धारणकर अपने आराध्य-देव का मुखोल्लास विवर्धन करें, हम लोगों की सहायता करके हृदय में जलती हुई शोकाग्नि को शान्त करें और जगत में अपरिसीम-मंगल का प्रसारण करके सबके सुख की सम्प्रदाता बनें।"विश्व के वाङ्मय में व्यक्तित्व का हमारे भ्राता-भाभी जैसा अद्‌भुत-प्रकाश कदाचित ही दृष्टिगोचर होगा," यह वार्ता चारों कुमारों सहित सभा में संस्थित हमारे श्वसुर देव चक्रवर्ती सम्राट की श्री मुख विनिस्सृता है।

श्री सिद्धिजी : (कर्ण बन्दकर, हाय! हाय!! कहती हुई साश्रु)राम! राम! कैसे-कैसे कह रही हैं श्री माण्डवीजी ! हंस-वंशावतंस परम-विवेकी प्रेम-मूर्ति हमारे मझले-ननदोई के विषय में श्रीराम-वन-गमन के कारण की, कल्पना करना मुख में काला लगाकर करोडों-कल्पों तक नरक की गहरी-खाँई में पड़े रहने के लिये पर्याप्त है। मेरी मझली-ननद! आपका नैच्यानुसंधान प्रपत्ति-धर्मानुयायियों के अनुरूप है किन्तु चतुर्दश-भुवनों के मध्य आर्यश्रेष्ठ श्री भरतजी के समान श्री भरतजी ही हैं। श्री भरतजी का जन्म, जगत में प्रेम की पयस्विनी बहाकर चराचर को उसमें आत्मसात करने के लिये है। वे प्रेम-प्रशिक्षण की पाठशाला के प्राचार्य हैं, तुर्या का तारुण्य ही तरणि-तेज के समान भरत के रूप में दृष्टिगोचार हो रहा है, योग-द्रुम का परम-पक्व-फल स्वयं कैकई-कुमार के स्वरूप में अवनि-मण्डल पर अवतीर्ण होकर अपने अनाख्येय रस का आस्वादन करा रहा हैं। अहो! विधि-हरि-हर भी श्री भरत-चरित्र की चन्द्रिका के चकोर अवश्य बने हुये होंगे और इनकी मति, गति, कहनि, करनि और रहनि को देखकर दाँतों-तले-उँगली दबाते होंगे। स्वयं श्री रामजी महाराज ने मुझसे कई बार श्री भरतजी की सर्वाङ्गीण-सराहना की है, बहुत बार उनके चरित्र-स्मरण-मात्र से प्रेम की धारा में स्वयं बहकर मुझ सहित मेरी सारी सखी-सहेलियों को विभोर बना दिया है। मेरी लाड़ली ! अब मेरे कर्ण श्री भरतजी व आपके विषय में न सुनने योग्य दूषित-भावों को न श्रवण करें आप श्री के मुख से , यही प्रार्थना है अन्यथा आपकी भाभी असहिष्णुता का आलिङ्गन करके अकाल में ही यम-देव का अवलोकन करने चली जायेगी।

श्री उर्मिलाजी : भाभीजी ! जिस प्रकार नील-गगन में परिसृत तारावली का नियमपूर्वक-निरन्तर उदय, विभव और प्रलय होता रहता है, उसी प्रकार लीला-धाम (धराधाम) में भी श्री परम-तत्व-भगवान की लीला-विभूति का त्रिविध-दर्शन सर्वदा

संचालित रहता है। तीनो–कालों में द्रष्टा, दर्शन और दृश्य नाम की त्रिपुटी, एक परम तत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भगवल्लीला की एकमात्र प्रतिष्ठा है अतएव लीलानायक की लीला के सभी सदस्यों को वही पाठ करना औचित्य को लिये हुये होगा जो अभिभावक को अरुचिकर न हो। प्राण–प्रिय बड़े भ्राता के वनवास की वार्ता सुनकर मर्माहित होने के कारण सुमित्राकुमार ने अपने बाहु–बल से अपने अग्रज को, अयोध्या के राज्य–सिंहासन पर अभिषिक्त करने का अकथ–प्रयास किया किन्तु श्री सीताकान्त के अनुकूल न होने से उन्हें अपने आग्रह का परित्याग करके अग्रज के रुच्यानुसार कार्य करने के लिये बाध्य होना पड़ा और हम लोगों को भगवान की लीला के सम्पादनार्थ मूर्ति–त्रय के वियोगाग्नि में अपने को झुलसाने का पाठ पढ़ना पड़ा इसी प्रकार आपको भी अपना पाठ निवेदन करना पड़ रहा है। हम लोग कर ही क्या सकती हैं? सर्व–समर्थ रघुवीर श्री रामजी की रुचि एवं अनुशासन के अतिरिक्त आचरण करने वाले चराचर जगत में कहीं देखे और सुने नहीं गये हैं क्योंकि सभी प्रभु–परतंत्र हैं। जो अनीश्वर वादी प्रकृति की प्रधानता स्वीकार करके केवल प्राकृतिक–भोगों की प्राप्ति को ही पुरुषार्थ समझते हैं, वे प्रभु–प्रेरित, प्रकृति के द्वारा असाधारण दण्ड के अधिकारी बनते हैं।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) मेरी लाडिली छोटी–ननँद ! आप श्री की विशिष्टवाणी–सत्य–सारगर्भित है। आपकी होने के नाते मैं भी विचारती और समझती हूँ किन्तु इस ऐश्वर्य से अभिभूत–ज्ञान की गुरुता को आनन्दकन्द–रघुनन्दन का माधुर्य–महोदधि–स्वरूप डुबोकर उसको निःशेष कर देता है। मदीयत्व और तदीयत्व के सम्पुट में रखा हुआ सुरक्षित–प्रेम का आसव प्रेमी को विभोर बनाये रहता है किन्तु इसके विपरीत विरह–भय की मरोर उसके मन को मंथन कर डालती है, चित्त में चैन नहीं आने देती, बुद्धि में विचार का बल विनष्ट कर देती है। और हृदय में सिहरन, कम्पन तथा कसक उत्पन्नकर मृत्युमुख का कवल बना देती है। आप श्री का सौभाग्य सबसे बढ़कर है, आप न सही, आपके कान्त तो अपने अग्रज के संग रहकर सर्व–भावेन उनकी सर्व–प्रकार की सेवाओं में संलग्न रहा करते हैं। हाय ! हमसे अभागिनी तो हम ही हैं। (रोने लगती हैं।)

श्री श्रुतिकीर्तिजी : भाभीजी ! लीलामय–रघुनन्दन लीला करते समय जीवों को सापेक्ष से प्रतीत होते हैं किन्तु उनकी निरपेक्षता और अखण्ड–ज्ञान की गुरुता कभी लुप्त नहीं होती इसलिये स्थितप्रज्ञ–महात्मा प्रशान्त बने रहते हैं परन्तु प्रेमियों का मन प्रेमास्पद के ऐश्वर्य का ज्ञान भुलाकर माधुर्य में मुग्ध हो जाता है और प्रियतम को दुःखमयी लीला करते समय देखकर सहिष्णु नहीं बन पाता, प्रिय के दुःख एवं वियोग का अनुसंधान कर–करके अपना अस्तित्व ही खो बैठता है, तदनुसार शोक–सागर में समाविष्ट रहना विरही–जनों का स्वरूप आचरण में मूर्तिमान होता है एवं विरह–कातरों की समाजकीय–स्थितियों का स्थापन करता है। जिससे सच्चे प्रभु–प्रेमियों के स्वरूप का निर्मल निर्माण और निखार होता है, ऐसे महापुरुषों का जीवन ऐसे ही शील से अनुप्राणित होता है, जो प्रेमी समाज का साक्षात–स्वरूप एवं धर्म माना जाता है जिसके अनुकरण, अनुकीर्तन और चिन्तन से सात्विक–विभूतियाँ जनता को संप्राप्त होती हैं।हाँ, यह वार्ता सबको अमृत के समान प्रतीत होती है कि आपके मनोरथ के अनुसार अयोध्या के प्राण मूर्ति–त्रय, श्री माण्डवी–नाथ की प्रार्थना सुनकर अयोध्या लौट पड़ते तो अवध अनाथ न होता, प्राणियों की प्राणशक्ति

प्राणियों का संग परित्याग न करती अन्यथा शोक के सागर में डूबकर सब लोगों को सदा के लिए अस्त हो जाने की आशंका रहेगी ही।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) मेरी लाडिली ! आपकी वाणी का विसर्ग ऐसा हो रहा है जैसे मेरा मन आपके मन के साथ मैत्री–भाव स्थापित कर आपकी वाक्‌इन्द्रिय को बोलने की प्रेरणा दे रहा हो। सानुज श्री रामजी का श्री किशोरीजी के साथ लौट जाना ही श्री भरतलाल जी को पृथ्वी में प्रतिष्ठित रखने का कारण हो सकता है अन्यथा मेरा अधीर मन क्या–क्या कुतर्क करने लगता है। हाय ! वर्तमान में विधि की विडम्बना का दृश्य बडा ही भयंकर और अशोभन है जो कि भरत जी जैसे महाभागवत को भी भय की खाई में गिराकर निर्भयता का स्वप्न नहीं देखने देता।

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! भैया के भाम का अयोध्या लौटना असंभव और असाध्य है क्योंकि सत्य–व्रत के व्रत को कोई परिस्थिति भंग नहीं कर सकती । सत्य–संकल्प का संकल्प असिद्ध होते कभी देखा नहीं गया । आर्यश्रेष्ठ का स्वभाव है कि वे एक बार जो बोल गये, सो बोल गये। दूसरी बार उसमें संशोधन नहीं करते। महज्जनों की क्रिया–सिद्धि अन्य उपकरणों की अपेक्षा न करके एक सत्य को ही स्वीकार करती है क्योंकि सत्य स्वयं अपने में पूर्ण होता है शेष श्रेष्ठ गुण भी बिना सत्य के अपूर्ण होते हैं।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) पतिव्रते ! आप श्री के भैयाजी के मनोगत–भावों का सही चित्र, चित्रणकर, आप श्री के समक्ष रख रही हूँ। उनका मन है कि यदि शील के मूर्तिमान श्रीमद्रामजी महाराज आर्य–मार्ग में अनुदीक्षित होने के सम्बन्ध से अयोध्या नहीं लौटते तो हम सपत्नीक मुनि का वेश अपनाकर अपने भगिनि–भाम के कैंकर्य करने के लिए उनके साथ–साथ, चौदह–वर्ष वन में निवास करेंगें इस विषय में मेरी सम्मति ही केवल नहीं है प्रत्युत हृदय में यह भावना दृढ़ हो गई है कि यदि श्री रामजी वन में ही निवास करना चाहते हैं तो हम दोनों भी अवश्यमेव वनवासी बनेंगे।

श्री किशोरीजी : (साश्रु) भाभीजी! आपका भाव परम विशुद्ध–भावितात्माओं के भावानुरूप है। आप हम लोगों को अपना सर्वस्व–समर्पण करके अपने ननॅद–ननदोई के प्रेम–जल का मीन अपने मन को बना रखी हैं। वियोग का स्मरण संयोग–दशा में भी आपको वैचित्र्य–प्रेम की स्थति में स्थित कर देता है। अतएव आपका वन में वास करने का विचार आश्चर्यजनक नहीं अपितु स्वभाव परक है किन्तु आप श्री के सम्बन्धी अवधेन्द्र–कुमार अपनी सरहज और श्याल को अपने लिये तपस्वी–वेष में देखना स्वीकार नहीं करेंगे और न साथ में लेंगे ही क्योंकि करुणा–वरुणालयजू की आँखें आपका उक्त–वेष देखने में सक्षम नहीं हो सकती। अहो ! प्रसंग वश यथावसर आपके मेहमान के अनेक दिव्य–गुण अनायास प्रकट होकर प्रकाशन में आ ही जाते हैं, अस्तु मैंने भी संकोच छोड़कर अपनी भाभी से उनके एक–दो गुणों का वर्णन कर देना अनुचित नहीं समझा।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) कृपा–विग्रहे ! तब तो जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है। हाय ! हाय !! क्या होगा ? (कुछ रुककर) करुणालयाजू ! अभी तो यह लग रहा है कि संभव है श्री भरतजी की प्रार्थना शरणागत–वत्सल–भगवान श्रवणकर अयोध्या लौट चलें, यदि दृढ़–व्रतधारी नरपति–नन्दनजू नहीं ही लौटेंगे तो हम लोग अपनी प्रार्थना अवश्य उनके कर्णों तक पहुँचायेंगे, स्वीकृत करने न करने में वे स्वतंत्र हैं उनके हृदय को संकोच न

देकर उनकी आज्ञा का अनुवर्तन करना अपना स्वरूप है और स्वार्जित-पापों का परिणाम भोगना परिपाक-काल में देह का धर्म है। अस्तु, परिस्थिति के अनुसार आप दोनों की इच्छा का अनुसरण आप श्री के भ्राता-भाभी करेंगे ही। हाय ! क्या भविष्य के उदर में भरा हुआ भवितव्य है ......। (रोने लगती हैं।)

श्री किशोरीजी : भाभी जी ! चिन्ता न करें, पुण्यात्मा के पुण्य का परिणाम अच्छा ही होगा। आप श्री को हमारी सासुओं से मिलना है अतः चले मैं भी अपनी भाभी के साथ चलती हूँ।

श्री सिद्धिजी : लाड़िलीजू! मुझे श्यामसुन्दर जू की माताजी का दर्शन कराने के लिए आप स्वयं चल रही हैं। अहो ! कितनी कृपा ! कितना प्यार मुझ पर। चलें ... आपके साथ अच्छा रहेगा क्योंकि आप श्री के अत्यधिक प्यार से विश्व का कण-कण मुझे स्नेह-दृष्टि से देखता है, अस्तु, आपकी विद्यमानावस्था में आपकी समस्त सासुओं का स्नेह मुझे प्राप्त हो जायेगा, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

[श्री सिद्धिजी व श्री किशोरीजी प्रस्थान करती हैं।]

पटाक्षेप

\- - - - - -

द्विषष्टितमः दृश्यः ६२

[श्री सिद्धिजी,श्री किशोरीजी के साथ कौशिल्या अम्बा के पर्ण-कुटीर में पहुँचती हैं। देखते ही श्री कौशिल्याजी अपने चरणों में प्रणाम करती हुई, दोनों को उठाकर हृदय से लगाये हुए साश्रु चुम्बन लेती हैं और आसन में बैठकर उन्हें अपनी गोद में बैठाकर प्यार करने लगती हैं। कुछ देर में उठकर दोनों ननँद-भाभी वहाँ बैठी हुई, अन्य माताओं को पृथक-पृथक प्रणाम कर, सबका स्नेह प्राप्त करती हैं पश्चात् निर्धारित-सामयिक-आसन पर कौशिल्या जी के सामने बैठ जाती हैं।]

कौशिल्या जी पद गाती हैं.....

रुठ गये क्यों हम पै, विधाता !
दोउ नयन की दोउ पुतलियाँ, सिद्धि-सिया सुखदाता ।। विधाता।।
करि कुवेष वन दुहुन मिकारी, अन्ध कियो मोहि धाता ।।विधाता।।
करि पति-हीन सुतहिं वन भेजी, पेट भरयो नहिं ताता ।। विधाता।।
हर्षण कहति भविष्य का होइहिं, कंपत कौशिला गाता ।।विधाता।।

दैव! आज इन दोनों आँखों की दोनों पुतलियों को देख तो रही हूँ किन्तु इनकी कुवेषता मुझसे देखी नहीं जा रही है। हाय मेरा पाषाण-हृदय भी द्रवीभूत होकर नेत्र-मार्ग से बह सा रहा है। हाय ! क्या करूँ? मेरे कुटिल-कर्मों का फल प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। हाय ! हाय !!

[...कहकर पुनः दोनों को हृदय में चिपटाकर सिसकने लगती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु)अम्बाजी ! आप पर ईश्वर की अनुकूलता की इयत्ता का अन्वेषण करने में विधि-हरि-हर भी असमर्थ रहे हैं, हैं और रहेंगे किन्तु वर्तमान समय के विधि-विधान के अन्तर्कोष में क्या भवितव्य छिपा हुआ है कुछ जाना नहीं जा रहा है। हाय ।आप श्री के वैधव्य-वेष को देखकर हृदय विदीर्ण सा हो रहा है। हाय ! श्रीमान चक्रवर्तीजी महाराज केसमकक्ष चक्रवर्तीजी महाराज ही थे, त्रिभुवन में उनकी समता करने वाला आर्योचित-श्रेय-गुणों की साकार मूर्ति कोई सुर नर या नाग नहीं था, न है और न होगा। हाय ! विधाता को उनके द्वारा किया हुआ हमारा अत्यधिक दुलार सह्य न हुआ। हाय ! पुत्रि ! सम्बोधन से सम्बोधित कर-करके स्नेहासक्त श्रीमन् महाराज हमको अपनी ज्येष्ठ पुत्र-वधू से किंचित कम नहीं मानते थे। हाय! अब हमें असाधारण-स्नेह की सरिता में कौन स्नान करायेगा ? हाय! अब किसके वात्सल्य-स्नेह से हमारे जीवन की ज्योति जगमगाती हुई जगत में जलेगी हाय ! हाय!!

[...कहकर श्री सिद्धिजी रोने लगती हैं, चक्रवर्तीजी का स्मरण श्री किशोरीजी सहित सम्पूर्ण रनिवास को रुला रहा है। सारी स्त्रियाँ साक्षात-करुणा की विविध-मूर्तियाँ सी मालुम पड़ रही हैं।]

श्री सुमित्राजी : (सिद्धिजी को धीरज बँधाकर)आर्य नन्दिनी सिद्धा ! अवश्यमेव अयोध्या नाथ, वत्स लक्ष्मीनिधि को प्राण-प्रिय श्री राम के सदृश मानते एवं प्यार करते थे तथा तुम्हें श्री विदेह-नन्दिनीजी की भाँति स्नेह से देखते थे। हम लोगों से तुम दोनों की चर्चा कर-करके वे प्रेम-विभोर हो जाते थे किन्तु विधि के कराल-कार्य की कठोरता ने श्री चक्रवर्तीजी महाराज को स्व-समाज के बीच न रहने दिया। हाय ! जिसके परिणाम में उनके प्यार के पानी से सिंचित सिद्धि-लता आज मुरझा गई है। हाय ! नेत्रों से देखा नहीं जाता किन्तु कोई कर ही क्या सकता है ? अस्तु, वत्से! धैर्य-धारण करो अन्यथा विपत्ति के पहाड़ से दबकर मृत्यु के अतिरिक्त किसी के हाथ कुछ नहीं लगना है। वत्स भरत ने हम सबको महाराज के साथ आत्म-यात्रा करने से हठ पूर्वक रोक दिया है अतएव वज्र की छाती कर श्रीराम और सीता के वनवास की कहानी केवल सुनती ही नहीं, देखती भी हैं। अस्तु, निमिकुल-वधू को हम लोगों के साहस को अपनी आँखों का विषय बनाकर समय का सम्मान करना चाहिए।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) अम्बाजी ! किंकरी का कठोर हृदय स्वयं वज्र को विलज्जित करने वाले वैशिष्ट्य से सम्प्रयुक्त है, जिसने आप लोगों के वैधव्य-वेष को देखते ही द्रवीभूत होकर अपने प्रवाह में शरीर को प्रवाहित नहीं किया। हाय ! धैर्य धारण करने में मैं हिमालय की हिम्मत को भी अपने से हीन समझ रही हूँ।हाय ! चक्रवर्ति-कुल-भूषण । हाय ! नरेन्द्र-शिरोमणि।

[....कह-कहकर कौशिल्या जी के चरणों मे लिपट-लिपट कर रोने लगती हैं।]

श्री कौशिल्याजी : (सिद्धिजी के अश्रु पोंछकर, दुलारकर) पुत्रि ! तुम्हारा पावन-प्रेम विलक्षण एवं विशुद्ध है वास्तव में तुम अपने ननँद-ननदोई तथा तदीय जनों के मुखाम्भोज को विकसित देखकर ही परम प्रसन्न रहने की स्वभाव वाली हो। चित्त-वृत्ति

को निरन्तर अविछिन्न रूप से अपने आराध्य में नियोजित किये रहना स्व-स्वरूप समझती ही अन्यथा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा एवं अशेषाभिलषित-सुख को न सहनकर अपने अस्तित्व का विसर्जन कर देना ही तुम्हें रुचिकर प्रतीत होता है। लाडिले राम तथा लाडिली सीता का भी अत्यधिक एवं अप्रतिम स्नेह जितना तुम्हारे प्रति है, उतना उनका प्रेम अन्यत्र नहीं दृष्टिगोचर होता है, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ किन्तु परस्पर वियोग का भीषण-झंझावात विषय और विषयी के संयोग-सुख से तरुवर को बिना उखाड़े नहीं रहेगा, यह मुझे अनुभव में आ रहा है। हाय ! यही दशा वत्स भरत के शिर पर सवार है। हाय ! कैकई-कुमार के विषय में मुझे इतना सोच है, जितना राम के प्रति नहीं। भरत की भावना का दृश्य चित्त-पटल पर चित्रित होते देखकर ही मैं मृत्यु-मुख का दर्शन सा करने लगती हूँ! हाय। मेरे भरत का जीवन अपने बडे बन्धु के बिना कैसे रह सकेगा जो सब माताओं के जीने का यथार्थ आधार है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) अम्बाजी ! यदि आपका आदेश आर्य-श्रेष्ठ रघुकुल भूषण को वन से अयोध्या लौट चलने को हो जायेगा तो अवश्य सूखती हुई श्रीराम के परिकर-वृन्दों की खेती स्व-प्रिय दर्शन की वारि से पुनः हरी हो जायेगी। श्री चक्रवर्ती जी महाराज की अनुपस्थिति में इस दीन-हीन-किंकरी के हृदय को अपनी प्रेम-किरणों से प्रकाशित करने के लिये एकमात्र आप श्री ही परम गति हैं। (पुनः पुनः अम्बाजी के चरणों में रो-रोकर गिर पड़ती हैं और प्रार्थना करती हैं कि ....) माताजी ! श्री रामजी वन से लौटकर अयोध्या चले चलें तो सब कोई वियोगाग्नि में जलने से बच जायँ अन्यथा अयोध्या-मिथिला की तृण-शाला को नृपति-नन्दिनी-नन्दनजू के विरहाग्नि से भस्मीभूत होते किंचित देर न लगेगी।

श्री कौशिल्याजी : (साश्रु) राम-प्रिये ! मेरा लाल अवश्य मेरे वचनों की अवहेलना न करेगा किन्तु मेरे मुख से उसको लौटने की आज्ञा मुझे और उसे धर्म-संकट में संनिवेशित कर देगी। पति-परायणा-पत्नी को अपने सत्य संघ सत्पति की आज्ञा के विपरीत स्वतन्त्रतानुसंधान करके अपनी आज्ञा का अनुवर्तन किसी से करवाना महान अधर्म व अपचार है उसी प्रकार सत-पुत्र को स्वार्थ-वश अपने पिता के आदेश की अवहेलना करना अनर्थ का हेतु है इसलिये भद्रे मैं कुछ आज्ञा न देकर विरह-वह्नि में झुलस-झुलसकर मृत्यु-मुख में चले जाना उचित समझती हूँ। हाँ, भरत की प्रपत्ति-धर्म-वेत्ता राम स्वयं विचार कर परम-प्रपन्न की रक्षा करें, यह त्रिकरण चाहती हूँ। भरत का मुझे बड़ा सोच है, राम के वियोग में कहीं उसकी प्राण-हानि न हो जाय। हाय ! राम के वियोग में तो मैं जी रही हूँ किन्तु भरत को न जीता देखकर मेरा जीवन न रह सकेगा। महाराज वशिष्ठ, श्री याज्ञवल्क्य, श्री विश्वामित्रादि ऋषि तथा महाराज मिथिलेश इस विषय पर जैसा निर्णय देंगे वैसा ही होगा, ये लोग चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं। हाय अकेली मुझ अभागिनी के कुकर्मों का परिपाक आज सबको शोक-सागर में समाविष्ट किये हुये है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) अम्बाजी ! आप जैसी विचार-शीला आप श्री ही हैं, तभी तो चन्द्रकीर्ति, चतुर-शिरोमणि, चराचर के प्राण-प्रिय श्री रामजी के मातृ-पद पर प्रतिष्ठित हैं आप ! अवश्यमेव गुरुजनों की अनुमति ही समाज के भाग्या भाग्य का

विनिश्चय करेगी। श्री भरत जी की दयनीय-दशा को देखकर आपके सभी सम्बन्धी शोक-समीर से संत्रस्त हैं। लगता है कि अयोध्या और मिथिला अनाथ होकर अपना अस्तित्व धरा-धाम पर न रख सकेगी क्या ? हाय ! हाय !! क्या से क्या हो गया और भविष्य में क्या होने जा रहा है, भगवान जाने।

श्री सुमित्राजी : वत्से ! परमात्मा की इच्छानुसार जो-जो होनहार होनी होती है, सो सो सभी के समक्ष समय पर समुपस्थित हो जाती है। समय परिणामी है दुर्दिनों के पश्चात शुभ-दिनों का भी शुभागमन होगा ही किन्तु प्राप्त-समय की असहिष्णुता के कारण सभी समाज के हृदय से धीरज निकलकर ज्ञानियों की हृदय गुफा में प्रवेश कर गया है अतएव अब हम लोगों को ज्ञानी-गुरुजनों का आश्रय लेकर आलोक पाने के लिए उनके पीछे-पीछे चलना चाहिये जिससे संकट-काल के सहन करने की शक्ति का संचय करके शुभ-काल की प्रतीक्षा करते हुए जीवित रहने में सक्षम हो सकें।

श्री सिद्धिजी : अम्बाजी ! किंकरी कौशल-किशोर की परतन्त्रा है, उनकी अचिन्त्य एवं अलौकिक लीला-शक्ति का जैसा नियोग होगा वैसा ही पाठ, संसार के रंग-मंच पर बरबस करना पडेगा और वही करने में दीन-दासी का स्वरूप सुरक्षित रहेगा। अस्तु, शिर श्री रामभद्रजू के चरणों में रखा है, जो उन्हें कराना होगा, करेंगे। साथ में रहकर सेवा में लगायें तो बहुत अच्छा, या अपनी विरह वेदना देकर अहर्निषि तड़पायें तो बहुत अच्छा, हमें उनकी इच्छा को अपनी इच्छा और उनके सुख को निज का सुख समझकर शरीर-यात्रा और आत्म-यात्रा करनी है। माताजी! बहुत धृष्टता कर बैठी आज आप श्री से, संकोच छोड़कर बडी-बूढ़ियों की तरह बात बोल गई, क्षमा करेंगी।

[श्री सिद्धिजी साश्रु कौशिल्याजी तथा श्री सुमित्राजी के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना करती हैं।]

श्री सुमित्राजी : (उठाकर) बेटी सिद्धा ! अभिवाच्छित समस्त श्रेय-गुणों की साकार मूर्ति हो तुम ! हेय-गुणों के बीज से तुम्हारा हृदय निर्बीज है। आर्य श्रेष्ठ-निमिकुल-वंशावतंस के स्वरूपानुरूप उनकी पुत्र-वधू हो। ज्ञानवान पुत्र भी ज्ञान-हीन पिता से पूज्य दृष्टि से देखने योग्य होता है तुम्हारी वाणी में अहं भरी-धृष्टता का कोई अंश न था, होता भी तो वात्सल्य-भाव से भावित सभी माताओं का हृदय उसे अपराध कोटि में न गिनकर प्रसन्नता का हेतु समझता।

श्री कौशिल्याजी : (गोद में लेकर साश्रु)बेटी ! तुमने सिद्धांत से संयुक्त समुज्वल-वचनों का ही तो विनियोग किया है। अहा ! लक्ष्मीनिधि-वलम्भा के अतिरिक्त किसे ऐसी स्वरूपज्ञता ने वरण किया है। धन्य है प्रेम और परमार्थ की मनोहर-मूर्ति को ! (किशोरीजू को गोद में प्यार करती हुई) दोनों भाभी-ननद मुझे प्राण-प्रिय बनी रहो, दोनों का अहिबात अचल रहे, वत्स राम की प्रीति दोनों पर अर्निवचनीय बनी रहे, दोनों पतिव्रत-धर्म में प्रवीण हो, दोनों की कमनीयकीर्ति भुवन-व्यापिनी हो और दोनों परस्पर-स्नेह की सरिता में किलोल करती रहो।

[आशिष देकर दोनों को खूब प्यार करती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (कौशिल्याजी के चरणों में पड़कर) अम्बाजी ! आप श्री के आशीर्वाद को पाकर मुझे कुछ पाना शेष नहीं रहा, कृतकृत्य हो गयी मैं, जीवन सफल हो गया और अपने ननद-ननदोई की सेवा के योग्य हो गई। दिन शेष है, भगवान-भास्कर,

अस्ताचल पधारने के लिए रथ का वेग बढ़ा रहे हैं, अस्तु, करबद्ध प्रार्थना है कि यदि आप श्री की अनुमति पा जाती तो श्री किशोरीजू को अपने साथ लेकर निवास-स्थान को प्रस्थान करती। श्री लाड़िली जू के पुनःपुनः दर्शन के लिए सभी मैथिल छटपटाते रहते हैं। दो घड़ी वहाँ ठहराकर आप श्री की नेत्र-प्रिय-पुत्र-वधू को भेजने में असावधानी न होगी।

श्री कौशिल्याजी : नेत्र-कान्ते ! तुम्हारी अभिरुचि के विपरीत आचरण मुझे स्वयं असह्य है, तुम परिकर समेत मेरी प्राण-प्रियतमा-वधू को अपने वास-स्थल पर ले जाओ वधू को समय पर यहाँ आ जाना औचित्यानुरूप होगा।

श्री सिद्धिजी : अहा ! माता का हृदय कितना कोमल होता है जिसके समक्ष नवनीत की कोमलता लज्जा से दबकर संकुचित हो जायेगी पुनः तुलना करने के समय अपना शिर न उठा पायेगी। अहो! अम्बाजी मेरी सम्पुटाञ्जली को न सह सकी, कितना विशाल व उदार हृदय है, पुनः पुनः प्रणाम करती हैं।

[श्री किशोरीजी सहित श्री सिद्धिजी का वासस्थान को प्रस्थान]

पटाक्षेप

....

त्रय षष्टितमः दृश्यः ६३

[समय पाकर श्री सिद्धिजी के समीप मिलने के लिए श्रीभरतजी तथा श्री शत्रुघ्न लाल जी जाते हैं। श्री सिद्धिजी देखते ही साश्रु उनके चरणों में गिर पड़ती हैं पुनः कुछ देर में धैर्य-धारण कर आसनादि देकर सामयिक-सत्कार करती हैं पश्चात् दोनों भाइयों के समीप साश्रु-लोचना बैठ जाती हैं। पृथ्वी पर टप-टप अश्रु-गिर रहे हैं। कण्ठ-मार्ग अवरुद्ध हो गया, कुछ बोल नहीं पातीं, निम्न-नयना नख से भूमि पर कुछ लिख सी रही हैं।]

श्री भरतजी : राज-कुँअरि ! मैं आपके समीप आपत्ति-ग्रस्त अपनी आत्मा की शान्ति-संशोधन के लिये आया हूँ और आप स्वयं अधीर हो रही हैं, यह देखकर मेरी आशा-संचय का निम्न-जलाशय टूटकर मुझे अवलम्बन हीन बनाने का उद्योग कर रहा है।

श्री सिद्धिजी :(साश्रु)भुवन-भूषण ! शरणागत-भय-भंजन-भगवान राम अपने आत्म-प्रिय अनुज की आपत्ति को स्वयं अपनी आँखों से देखने में असहिष्णु और असमर्थ हैं अतएव आप श्री के वदनाम्भोज को विकसित किये बिना रघुकुल कमल-दिवाकर वैदेही-वल्लभ के चित-चंचरीक को चैन कहाँ ? वे महा-महिम्न अवश्यमेव आपके मनोरथ को पूर्ण करेंगे, ऐसा अपना अटल विश्वास है।

श्री भरतजी : (साश्रु) प्रेम-मूर्ते ! अपनी ओर जब मैं दृष्टिपात करता हूँ तब लगता है कि मेरे पाप-पुंजों को सुनकर नरक की नासिका में भी सिकुड़न आ जायेगी। हाय ! आपके सम्मुख आने में मुझे बड़ी लज्जा लग रही थी किन्तु स्वार्थ-वश काला मुख किये हुए ही चला आया, अस्तु, आप दम्पति मिलकर श्री रामजी को अयोध्या लौट चलने

का साधन करें जिससे मेरे मुख की कलंक–कालिमा धुलने के रूप में आ जाय और मैं श्री रामजी महाराज के पादारविन्दों का दर्शन खूब आँख खोलकर करने में समर्थ हो सकूँ।

[श्री सिद्धिजी साश्रु लोचना, हाय ! हाय !! कहकर कर्ण दबाती हैं कुछ देर में धैर्य धरकर .....]

श्री सिद्धिजी : साधु–शिरोमणे ! पुंप्रकृतिमय–विश्व में विश्व विमोहन–मैथिली रमण राम के हृदय को हरण करने वाले एक मात्र आप श्री हैं, आपका असमोर्ध्व प्रख्याति का सूर्य त्रिभुवन के मानस–गगन में सर्वदा एक रस उदित बना रहता है, विश्व का सब ओर से नियमन करने वाले ब्रह्मादि–देव एवं समस्त सुर–समूह सुर–सुन्दरियों से संयुक्त आपको श्रद्धाञ्जलि समर्पण किया करते हैं। अपने हृदय–हिमालय से प्रेम की भागीरथी उत्पन्नकर चराचर–जगत को उसमें निमज्जन कराने वाले आकाश के तले एक कैकई–कुमार हैं। अहो ! आपके कीर्ति चन्द्र की किरणों से विनिस्सृत कथा–सुधा, त्रिताप–तप्त जगज्जीवों को शीतल कर अमर बनाने वाली है। ऋषियों–मुनियों एवं समस्त मनीषियों का समाज आप श्री के विमल–यश का स्मरण कर अपार संवित–सुख के सागर में निमग्न हो जाता है। श्री रामजी महाराज तो आपके नाम सम्बन्धी भकारादि–वर्णों की स्मृति से प्रेम–विभोर होकर स्मृति–शून्य हो जाते हैं। वैदेही जू के मुख से आपकी प्रेमभरी–प्रशंसा सुनकर मुझे कई बार विभोर हो जाने का अवसर आ चुका है अतएव आप इतनी ग्लानि के गर्त में क्यों गिर रहे हैं? पारस–मणि को प्राप्त करके दरिद्रता से डरना महाधनिक को क्या उचित है ? हे रघुवंश–विभूषण ! आप ही मिथिला–अवध समाज के संरक्षक हैं, आप श्री के सहारे ही सब लोग वियोग–जन्य–क्लेश के सागर का संतरण कर पायेंगे अन्यथा वियोगाब्धि का भीषण–दृश्य देखते ही विकल होकर अपना–अपना अस्तित्व खो बैठेंगे।

श्री भरतजी : (साश्रु) देवि ! भक्त–वञ्छा–कल्पतरु–भगवान श्री राम की श्रेष्ठता की सर्वत्र प्रतिष्ठा है, रही है और रहेगी। वे सद्गुणों के साकार विग्रह हैं। भरत में भरताग्रज के गुणों क़ा प्रतिबिम्ब पड़ने से ही भारत या भारतेतर–भूमिवासी, भरत को भव्य–भावनात्मक–दृष्टि से देखते थे। लोकप्रिय कौशिल्या नन्दन का लाड़–प्यार पाकर ही मैं लोक–प्रिय था। हाय ! कितना कृतघ्न निकला मैं । हाय ! हाय !! जब चित्त–पटल पर यह स्मृति उदय हो जाती है कि मेरे कारण ही नृपति–नन्दिनी–नन्दनजू को बिना पद–त्राण वन–वन में भटकना पड़ रहा है तब लगता कि मेरे प्राण–पखेरू इस शरीर–पिंजर से अभी–अभी उड़ जाते तो अच्छा होता किन्तु कठोरता की सीमा के साकार–विग्रह मेरे हृदय में असहिष्णुता का अनुभव कहाँ ? हाय ! सम्पूर्ण संसार के शोक का सृजन करने वाले, स्वामि के द्रोही का सन्निवास संयमनी पुरी में शीघ्र क्यों नहीं हो रहा है ? हाय .... !

[श्री भरतजी मस्तक में पाणि–प्रहार कर–करके मूर्च्छित हो जाते हैं। सिद्धिजी भी रोती–रोती बेसुध पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं। सिद्धिजी की सखी–सहेलियाँ रोने लगती हैं। श्री शत्रुघ्नजी भैया–भैया कहकर भरतजी को सचेत करते हैं। चित्राजी सिद्धिजी को सचेत करती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (सचेत होने पर) मेरे मझँले ननदोई! पृथ्वी के रज–कण नभ के नक्षत्र तथा पयोनिधि के पय–बिन्दु गिने जा सकते हैं किन्तु कौशिल्या–नन्दन के

श्रेयाति-श्रेय-गुणों का आकलन असंभव है। सीताकान्त के सौलभ्य सौशील्य तथा भक्त-वात्सल्यादि-गुणों के विकास का उत्कृष्टतम-उदाहरण दीपक लेकर अन्वेषण करने पर भी कहीं नहीं मिलता। अस्तु, हम लोग उनके गुण-ग्राम का अनुसंधान कर-करके महाविश्वास के वट की सघन-छाया में शान्ति के साथ प्रतीक्षा करते हुये बैठे रहें, अवश्य मनोरथ की बेला में फल लगेगा। इधर आपकी दैन्य-दशा का, उधर रघुनन्दन के वनवास का चित्र अपने स्मरण से मेरे मन को मथे जा रहा है परन्तु परतन्त्रता के कारण प्राण, प्रयाण भी कैसे कर सकते हैं ? उर-प्रेरक की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही प्रकृति के परमाणुओं में शक्ति का संचार होता है, अस्तु अन्तर्यामी रामजी की इच्छा के प्रतिकूल किसी के द्वारा क्रिया का होना असंभव है।

श्री भरतजी : (साश्रु) ज्ञान-गहने! शरणागत-वत्सल-सीताकान्त के स्वभाव का संस्मरण ही मुझे उनके सम्मुख ले आया है। विश्वास भी है कि मेरे सम्पूर्ण-अपराधों की ओर न देखकर पूर्ववत अपने अकिंचनदास का पालन करेंगे। आप सबके हृदय में मेरे हित की कामना की लता लहलहा-कर समय पर फल प्रदान करेगी। यदि आपकी अनुमति हो तो श्री लक्ष्मीनिधिजी के पास जाकर उनके सामने अपने उद्‌गारों को प्रकट करूँ क्योंकि वे परम-हितैषी-सखा ही नहीं अपितु मुझसे अभिन्न मेरी आत्मा हैं।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! आप यथा-रुचि यथा-स्थान को पधारें मैं आप लोगों की गुण-गणावली अश्रु-बिन्दुओं की माला से गिनती हुई कालक्षेप करूँगी।

पद : चित्रे! राम-भरत की प्रीति तर्कि न जावे।
विधि-हरि-हर मति गई भुलाई लखत दुहुन की रीति ।
सारे पर्वत मोम बनाये, अपने प्रेम की नीति ।
कीन्ह अवध कहँ कन्दुक दोऊ, पद-प्रहार करि गीति ।
हर्षण इत ते इत-उत ते इत, करि जिय चाहत जीति ।

[पद गानानंतर सिद्धिजी भरतजी को प्रणाम कर बिदा देती हैं। भरतजी प्रस्थान करते हैं पुनः सिद्धिजी चित्रादि सखियों से भरतजी का स्वभाव वर्णन करती हैं।]

पटाक्षेप

चतुः षष्टितमः दृश्यः ६४

[सभा-मुख से निश्चय हो गया है कि श्री रामजी देव-कार्य के लिये चतुर्दश-वर्ष वन में बसने के पश्चात ही अयोध्या लौटेंगे। श्री भरतजी भी रामजी की आज्ञा का अनुवर्तन करना स्वधर्म एवं सर्वश्रेष्ठ-सेवा है, समझकर विषाद-रहित हो गये हैं। श्री रामजी ने प्रसन्नता के साथ भरतजी को प्रतिनिधि रूप में अपनी चरण-पादुका प्रदान करके अनेक उपदेश दिये और अयोध्या का राज-काज सम्हालने के लिये प्रेरित किया है। श्री लक्ष्मीनिधिजी तथा श्री सिद्धिजी परस्पर चर्चा कर रहे हैं कि श्री रामजी के साथ वन में रहने का सुअवसर हाथ लग जाता तो अच्छा होता।]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) प्राणनाथ ! वैदेही–बल्लभ चौदह–वर्ष की अवधि–पर्यन्त वन में ही निवास करेंगे और सानुज श्री भरतजी अपने अग्रज की इच्छा व आज्ञा का अनुवर्तन करके श्रीराम–पद–पाँवरी के प्रतिनिधित्व में कौशल–देश की प्रजा का पालन करेंगे किन्तु हम लोग अपने आराध्य के इस कठिन कुअवसर पर कौनसी सेवा करके हृदय में किंचित शान्ति–सुख का सुअनुभव करें।

पद : है जीवन धिक्कार हमारो।
राम–सिया कैंकर्य किये बिनु, जियब–मरब सम–भार।
प्रतिनिधि करि प्रभु के पद–त्राणहि, बनि के भरत भुआर।
पलिहैं प्रजा समुझि हरि सेवा, मन के महा उदार।
हर्षण हाय करहिंगे का हम , कहि सिधि गिरी पछार।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु) हाय परिणितियों की परम्परा कितनी प्रबल है कि जिसने श्री रामजी को राजा से रंक बनाकर अयोध्या की अँधेरी रात का श्मशान बना दिया है, समस्त दिशाओं को व्याकुल करके अनाथ, दुर्बल और दयनीय बना दिया। प्रिये! इस कुसमय में अपने भगिनि–भाम के काम यदि यह न आया तो शरीर–धारण करने का अर्थ, अनर्थ के रूप में परिलक्षित होने लगेगा। हाय ! बिना श्याम सुन्दर की सेवा के शरीर को ढोकर क्या करूँगा। (कुछ रुककर) मन में एक संकल्प एवं मनोरथ उठता है, चित्त चैन पाने के लिये एक उपाय का चयन करता है, उर में एक उमंग उठती है और वह उसी भावना से भरकर विभोर बन जाता है। कहिये तो व्यक्त करूँ?

श्री सिद्धिजी : हृदय–हरण ! अवश्य अपने हृदयगत–उत्तम–उद्‌गारों को अपनी किंकरी के आगे स्पष्ट–प्रकट करने की कृपा करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्राण–वल्लभे ! मेरी भावना चाहे कितनी भी भव्य और असंख्येय ग्राह्य–गुणों की गरिमा को अपनी गोद में लिये हो किन्तु उसकी पूर्ति एवं उसके प्रकाश का प्रचार–प्रसार, सिद्धि–पद–प्रतिष्ठित हमारी अर्द्धांगिनी के आधार पर ही अवलम्बित है। अंतरङ्गे ! अपने अन्दर की देखी हुई प्रत्यक्ष–वार्ता का विनियोग आपके सामने कर रहा हूँ मैं, जिस में असत्य का स्पर्श नहीं है।

श्री सिद्धिजी : (शिर नत करके) मेरे मानद! आपको अपनी अनन्या दीनदासी की प्रशंसा करना रुच्योत्पादक प्रतीत होता है इसलिये आपके प्रिय करने के लिये आपकी प्रशंसात्मक–शब्दावली को श्रवण कर लेती हूँ मैं, वास्तव में सिद्धि की सिद्धाई आप श्री के आत्माकाश के परम प्रकाश से है, मैं स्वयं आपके बिना शून्य हूँ ! भूत–भविष्य और वर्तमान में आप श्री का ही अकंटक–साम्राज्य सिद्धि–नामक–प्रदेश में है, आप ही वहाँ के कर्ता–कारयिता एवं प्रकाश्य और प्रकाशक हैं, आप शीघ्र अपने अन्तराल के अनुभवीय सुविचारों को बतलाने की कृपा करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : सहचारिणि! सम्प्रति श्री लाड़ली–लाल वन में निवास करें और हम जन्म–भूमि में जाकर मिथिला महलों के महान–भोगों को भोगें इसके समान संकीर्णता का स्वारस्य, स्वार्थ का स्वरूप, निम्नता का नमूना, अज्ञान की आँखों का अन्धकार, औचित्य का अनादर एवं करणीय–कृत्यों की अवहेलना और क्या हो सकती है?

अगर विधि का विधान बैठ गया, श्री रामजी राजी हो जाँय और आपकी अनुमति प्राप्त हो जाय तो हम और आप अपने आराध्य के साथ विधिवत चौदह–वर्ष वन में निवास करके श्री सीताराम जी के जागते–सोते के सर्व प्रकार के कैंकर्य को किया करें, यह लालसा हृदय में एक क्रान्ति, एक आन्दोलन और एक सच्चे स्वार्थ की धूम मचा रही है। कहिये, आप मेरे मन्तव्य से सहमत हैं न ?

श्री सिद्धिजी : हे हृदय–हर्षणजू ! इससे अधिक मेरे सौभाग्य की सीमा क्या हो सकती है कि आपकी अनुगामिनी को आपके साथ तपोमय–जीवन व्यतीत करते हुये अपने ननद–ननदोई के सर्व भावेन सर्व प्रकारेण कैंकर्य करने का सुअवसर सुलभ हो जायेगा। प्रभो ! उपासना की पूर्णता में वासना ही बाधक है, वह आरम्भ होते ही जीव को परमार्थ से वियुक्त करके स्वार्थ (शरीर–सुख) की ओर प्रेरित एवं प्रवृत्त करती है जिससे जीव संसृति की सरिता के संप्रवाह में सदा संप्रवाहित रहता है। उपासना का आरम्भ जीव को स्वार्थ (शरीराध्यास) से परमार्थ (परमात्मा)की ओर प्रेरित करके परमात्मा से अपनी अभिन्नता का बोध कराता है इसलिये हम लोगों को गृह–सुख की आशा–वेलि का समूल समुत्पादन करके वन में बसते हुये नृपति–नन्दिनी–नन्दनजू की सेवा में संलग्न हो जाना चाहिये जिससे स्व–स्वरूप का संरक्षण होता रहे अर्थात अन्य–प्रयोजन का काला–सर्प अनन्य–प्रयोजनात्मिक बुद्धि का स्पर्श न करे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! अपने को रघुनन्दन राम के नित्य निकटस्थ अनुभव करने वाले को उपासना के लिये कोई अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि तुरीया के समीप तुरीया की सेवा करने वाले की प्रज्ञा तुरीया के अनुरूप सहज ही हो जाती है जिसके कारण वह परब्रह्म–परमात्मा का तत्वतः दर्शन करते हुये अपने को उनसे नित्य–युक्त पाता है अस्तु हम लोगों को अपने लाड़िली–लाल के निकटतम–देश में बस कर उनके कैंकर्य में लग जाना चाहिये, यही परम पुरुषार्थ एवं परम परमार्थ है।

श्री सिद्धिजी : ज्ञान–शिरोमणे ! आप श्री की सूक्ष्म–बुद्धि सूक्ष्माति–सूक्ष्मतत्व एवं विवेक का स्पर्श, बिना प्रयास के ही करती रहती है। धन्य है हमारे जीवन–धन के बुद्धि–वैशद्य को। कौस्तुभ–मणि के रूप में अपने भक्त–समूहों को धारण करने वाले भगवान राम क्या हमारी अभिलाषा के अनुरूप आदेश देकर हमें अपनी सेवा जनित अखण्ड–आनन्द का अनुभव करायेंगे ? इस विषय में आपके मन का मनन और बुद्धि का विमर्श क्या है ? बतलाने की कृपा हो।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हृदयज्ञे ! हृदय को हृदय–हरण ने हरण करके अपना आवास ही बना लिया है, इससे मन ने भी मनस्वी मन–मोहन को छोड़कर अन्यत्र जाना अस्वीकार कर दिया है। चित्त को चित–चोर ने स्वयं चुरा लिया है, इसलिये एकाकी बुद्धि ने विचारकर वैदेही–वल्लभ के साथ विवाह ही कर लिया है। अहं ने भी अयोनिजा के आत्म–देव का दास बनकर जब अपना अस्तित्व ही खो दिया तब आत्मा के रूप में अवनिप–कुमार का दर्शन सहज स्वभाव में उतर आना स्वरूपानुरूप ही है। रहा शरीर–संघात वह भी श्यामसुन्दर की सेवा के लिये समर्पित हो चुका है। रघुनन्दन स्वतन्त्र हैं और दास परतन्त्र हैं, अस्तु, जैसा इसका विनियोग करना चाहेंगे, करेंगे । चूँ करने से ही स्वरूप भ्रष्ट होने की स्थिति का प्रवेश हो जाता है।

श्री सिद्धिजी : ज्ञान-मूर्ते! आपका सर्वात्म-समर्पण श्याम सुन्दर के श्याल के स्वरूपानुरूप है, फिर भी भोग्य को भोक्ता के सम्मुख उपस्थित करना चेतन के अनुकुल होता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! विचार आता है कि श्रीमान् पिताजी को पुरस्कृत करके श्री रामजी के समक्ष हृद्‌गत-भावों को प्रकट करूँ? कहिये ठीक है न ?

श्री सिद्धिजी : जीवन-सर्वस्व ! आप श्री के सभी विचार विशुद्ध और विवेक पूर्ण होते हैं, उनमें संशोधन की आवश्यकता का सदा अभाव रहता है। अवश्यमेव आप अपने अन्तःकरण की अभिलषित अभिव्यक्ति को कौशल-किशोर के समक्ष व्यक्त-रूपेण समुपस्थित करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : समयज्ञे ! आपका मन उत्साह-पूर्ण है न ? कहिये श्री रामजी हमारी आर्ति-पूर्ण प्रार्थना को श्रवण करके हमें सुफल-मनोरथ करेंगे कि नहीं, आपका मन क्या कह रहा है ?

श्री सिद्धिजी : सर्वज्ञ ! आपके मनोनुकूल ही दासी के मन की दशा है। आप अपने मन से मेरे मन के भाव समझ लें, समय पर उसकी सत्यता का समीक्षण हो ही जायेगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये! मेरा मन संशय-शील है, बुद्धि उसे दृढ़-निश्चय न देकर बन्दर की तरह चंचल बना रही है।

श्री सिद्धिजी : प्रभो ! महाभागवत कैकई-कुमार की प्रपत्ति, प्रपत्ति-धर्म-वेत्ता भगवान राम को इष्ट न होने से सद्यः सिद्धिकरी नहीं सिद्ध हुई अतएव आप से भी की हुई साधन-श्रेष्ठ-शरणागति, सर्व-लोक-शारण्य के अनुकूल न होने पर तत्क्षण फलवती दिखाई देने में अवश्य संदेहात्मिका है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : दूरदर्शिनि ! भरतजी ने भक्त-वत्सल भगवान श्री रामजी को अयोध्या लौट चलने के लिये शरणागति की थी, मैं तो उनके सेवार्थ संग में चलने की अनुमति पाने के लिये प्रपत्ता बनना चाहता हूँ न कि उनके अभीष्ट का रिवर्तन करने के लिये।

श्री सिद्धिजी : कैंकर्य-प्रिय प्राणनाथ ! आप श्री के मनोगत-भावों का सही संकेत एक दिन मुझे मिल गया था आप श्री के ही मुख से। समय पाकर उसे श्री मैथिली जू से मैंने व्यक्त किया। श्रीराज किशोरीजू ने कहा कि श्री रामजी को आप लोगों के तपस्वी वेष का अल्प-दर्शन करना असह्य होगा और आपको मिथिला से विलग कर अपनी सेवा के लिये वन में वास कराना उन्हें औचित्य के अनुरूप न लगेगा। अस्तु, आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि श्री किशोरीजू का उत्तर श्रीरामजी के हृदय का स्पर्श किये बिना कभी नहीं हो सकता।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मनोज्ञे ! अहं और आसक्ति-हीन कर्म करना अधिकारी कृत्य है और फल-प्रदान करना न करना ईश्वर का कृत्य है, अस्तु, हमको अपनी अभिलाषा अवध-नरेन्द्र के कुमार के सामने रखकर प्रणाम करना ही चाहिए। भविष्य में भवितव्यता आगे आयेगी ही। मेरे विचार से आप सहमत हैं न अपनी अर्द्धाङ्गिनी की अनुमति से की हुई क्रिया सफलता का दर्शन सदा से कराती हुई चली आ रही है, यह मेरा अनुभूत विषय है।

श्री सिद्धिजी : विचक्षण ! श्यामसुन्दर रघुनन्दन के सामने सेवा करने की प्रार्थना करना स्वरूपानुरूप है अतएव आप श्री का विचार अत्युत्तम और अभाव रहित है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आप भी क्या श्रीरामभद्रजू से एकान्त में अपनी अभिलषित-वाणी का विनियोग कर सकती हैं ?

श्री सिद्धिजी : प्राणेश्वर ! आप श्री के अनुशासन से क्या नहीं कर सकती, किन्तु मैं आपके अधीन आपकी किंकरी हूँ, आपकी अनुगामिनी हूँ। मेरी प्रार्थना से मेरे ननदोई के मन में कहीं यह न आ जाय कि मेरी सरहज स्वातन्त्र का सहारा लेकर स्वेच्छाचार तो नहीं कर रही है, अस्तु, आप श्री स्वयं अपने मुख से अपनी अभिलाषा प्रकट करेंगे तो अत्युत्तम और अधिक शोभन होगा। अपने उदार-गुणों से प्रजा को अनुरंजित करने वाले श्रीराम अपने नाम का सार्थक अनुसंधान करके अपने से अभिन्न आत्म-सखा के वचनों को अवधारण कर शान्ति-शय्या में शयन कराने का अवश्य प्रयत्न करेंगे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! अच्छा है, समय पाकर मैं स्वयं श्री रामजी से अपनी विनय उनके कर्णों तक पहुँचाऊँगा। अब सायं-कृत्य निर्वाह करने का समय है इसलिए हम दोनों को अविलम्ब, नित्य-कार्य में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! मैं भी आप श्री से यही प्रार्थना करने वाली ही थी कि आपकी आज्ञा हो गई अतएव करणीय-कृत्य के करने के लिए हम लोग चलें।

[दोनों संध्या करने के लिए प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

पञ्च षष्टितमः दृश्यः ६५

[श्री रामजी महाराज ने अपनी लीला-शक्ति के चमत्कार का प्रदर्शन कराकर एवं अपनी रुचि की प्रधानता बतलाकर ससिद्धि श्री लक्ष्मीनिधिजी को मिथिला लौट जाने के लिये राजी कर लिया। समय पर सारा समाज करुणा विग्रह बनकर अयोध्या वापस हुआ। श्री मिथिलेशजी ने दो चार दिन अयोध्या में रहकर वहाँ की सारी व्यवस्थाओं को यथा स्वरूप व्यवस्थित कर दिया और अन्त में ससमाज मिथिलापुरी को प्रस्थान किया। युगल किशोर के बिना मणिहीन फणि की तरह सब मिथिलावासी जी रहे हैं, सब लोगों ने श्री रामजी का मंगलानुशासन करते हुए सर्व-भोगों का परित्याग कर दिया है, सभी प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए नियम ले-लेकर अनुष्ठान करने लगे हैं।]

पद : श्रीराम सिया का मंगल गावैं ।

चित्रकूट में वस कर दोऊ, सुख में सने सुखहिं सरसावैं।
मंगल सुनहिं सुमंगल पेखैं, मंगल परसि सुमंगल खावैं।
मंगल घ्राण करहिं मन भावत, विधि ते इहै मनावैं।
हर्षण हम लै संयम-नियमहिं, दर्शन आशा जियहिं जियावैं।

[एक प्रहर-रात्रि व्यतीत हो चुकी है, आसन में बैठे हुए श्री सिद्धिजी तथा श्री लक्ष्मीनिधिजी नियम पूर्वक चौदह वर्ष रहने के विषय में परस्पर चर्चा कर रहे हैं।]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु)जीवन धन ! प्राण के प्राणों को तो मैं वन में छोड़ आई फिर भी प्राण शरीर का संग नहीं छोड़ना चाहते।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (साश्रु)प्रिये ! आपके प्राण-पखेरू शरीर-पंजर से उड़ गये होते किन्तु आप मेरे लिए रामेच्छा से प्राण धारण कर रही हैं। हाँ, मेरा हृदय अवश्य वज्र विनिर्मित कोई विशेष वस्तु है जिसमें द्रवीभूत होने की संभावना कहाँ ? हाय हमारे प्राण-प्रिय भगिनि-भाम वन-वन में भटकें और हम राज-सदनों के भोगों में आसक्त-मना बने रहें। अरे ! अरे ! महलों के मध्य हम अब भी अपने को देख रहे हैं। हाय ! कितनी कृपणता, कितनी कठोरता और कितनी कृतघ्नता है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) मेरे प्रियतम ! आप श्री राम-प्रेम की साक्षात् प्रतिमा हैं श्री रामजी की प्रवृत्ति के अनुरूप आप अपनी सहज प्रवृत्ति बना रखे हैं, अस्तु अपने आराध्य के रुचि में आपकी रुचि समाविष्ट होकर समाप्त-प्राय हो गई है। आप श्री ने आज तक जो किया है, वह परम-प्रभु के प्रसन्नतार्थ किया है। भविष्य में जो होगा वह भी प्रभु-प्रीत्यर्थ ही होगा अतएव आप इतने कार्पण्य के प्रवेग-प्रवाह में बहकर आत्मा को अवसादित न करें। मानव की मानवता तथा जीव के जीवन की सार्थकता और परम-पुरुषार्थ का सर्वोच्च-शिखर यही है कि वह राम को देख लें या श्रीराम की दृष्टि उस पर पड़ जाय, जिसका मज्जन-अशन और शयन श्रीराम के संग-संग हुआ हो उसके सौभाग्य का स्वप्न विधाता को भी दुर्लभ है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मधुर-भाषिणि ! कंटकाकीर्ण वन-पथ में श्री रामजी तथा श्री किशोरीजी के कुसुम-कोमल-चरण कैसे चलते होंगे। हाय राज-भवन में पद-न्यास करना पद-पद में उक्त-स्मृति के चित्र पर चित्त को लगाकर मुझे महादुखी कर देता है। हाय ! राज-प्रासाद के समस्त-सुख मुझे नगण्य एवं कोटि-कोटि यम-यातना के समान प्रतीत हो रहे हैं। हाय ! क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ सूझ नहीं रहा हाय ! धैर्य कैसे धरूँ! वामे ! वियोग का संकट भूतकाल के संयोग-सुख की स्मृति को स्वप्न के समान परिभाषित करने में समर्थ होता है।

श्री सिद्धिजी : प्रेम-मूर्ते ! आप जैसा, मेरे चित्त में भी चैन नाम की कोई वस्तु नहीं क्योंकि शरीर के अनुरूप ही तो उसकी अनुगामिनी छाया का चित्र होगा ।मेरे जीवन-धन को सुखद और रुचिकर प्रतीत हो तो किसी विवक्त-देश का सेवन करके शान्ति सुख का संग्रह किया जाय। सदन के संभोग की अंधियारी में अशान्ति का अनवरत आक्रमण होना असंभव नहीं है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मन्त्र-कोविदे ! यही तो मेरे मन का मनन और बुद्धि का विमर्श है कि यदि श्रीधर-कुमारी की सम्मति हो तो हम दोनों राजसदन का शीघ्र परित्याग करके पुर के बाहर कमलाजी के समीपस्थ वन-भूमि में पर्णशाला बनाकर सनियम एकान्त सेवन करें। वल्लभे ! चतुर्दश-वर्ष वन में निवास कर अपने भगिनि भाम के दर्शन के

पश्चात् ही भगवान की इच्छा से भवन में वास करें और उनके सुखप्रद कैंकर्य का अनुष्ठान कर परम–पुरुषार्थ समझें।

श्री सिद्धिजी : धर्मज्ञ ! आप श्री धर्म–मूर्ति हैं, आप श्री से जो कुछ होगा वह धर्म का सार ही होगा। प्रभो ! मेरे हृदय में भी यही इच्छा बार–बार उत्पन्न होती रही कि श्री किशोरी जी व श्री रामजी की तरह तपस्वी–वेष बनाकर चौदह–वर्ष हम दोनों वन में संयम–पूर्वक–सनियम निवास करें और युगल–किशोर को अवधि के अनन्तर अयोध्या की बीथियों में विहरते, दर्शन करके ही मिथिला के राज सदन में उन की प्रसन्नता के लिये प्रवेश करें अन्यथा युगल–मूर्तियों के दर्शनाभाव में जीवन भर वन में निवास करते हुये कालक्षेप करना श्रीराम के श्याल व सरहज के स्वरूपानुरूप ही होगा।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हृदयज्ञे ! आपका कथन सती–साध्वी–सन्नारी के स्वरूपानुरूप है। आपका प्रभु–प्रेम भी पराकाष्ठा को प्राप्त हो चुका है। आपकी अनुमति प्राप्तकर मेरे मनोरथ की वेलि वार्धक्य–भाव के घेरे में लहलहाने लगी। अहो ! धन्य है, हमारे भाग्य–वैभव को, कि परम प्रभु के कृपा–प्रसाद से आप जैसी सह–धर्मिणी सुलभ हो गई है। आपके श्री–मुख–हिमालय से उद्भूत सहस्त्रशः जलधाराओं के समान श्री लाड़िली–लाल की कथा–सुधा का पान श्रवण के द्रोण–पात्रों से कर–करके हम कृतार्थ होते रहेंगे। प्रिये ! सच्ची–संगिनी सिद्धि कुँअरि का सदा मंगल हो, सदा मंगल हो।

श्री सिद्धिजी : प्रियतम ! मैं मिली नहीं, अनन्त–काल से अनागन्तुक आपकी सहज–सेविका हूँ। हाँ, मैं अवश्य धन्य–भाजना बन गई हूँ कि मेरा सहज–सम्बन्ध आप श्री से है जिनकी कृपा का चिन्तन आप श्री कर रहे हैं, दासी की दृष्टि में वही आप हैं। मुझे आपके अनन्य–शेषत्व, अनन्य–भोगत्व और अनन्य–रक्षकत्व रूप अकार त्रय की प्राप्ति स्वस्वरूप में सदा संस्थित किये रहती है अस्तु, आप इसे अपनी परतन्त्रा दासी समझकर स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वदा उपयोग करते रहें, यही प्रार्थना एवं अनुरोध है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! वन–विभूति के बीच निवास करने के लिये हमें अपने गुरु–जनों की आज्ञा अपेक्षित है इसलिये उनसे प्रार्थना करने का मैं निश्चय कर रहा हूँ। ठीक है न ?

श्री सिद्धिजी : विनीत ! गुरुजनों का आदर करना एवं उनकी आज्ञा का अनुवर्तन करना आप श्री का स्वभाव है अतएव अवश्य आर्य–जनों की आज्ञा लेकर ही आर्य–नन्दन को वन में निवास करते हुये आर्य–पथ का अनुसरण करना चाहिये।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! रात्रि अधिक चली गई है अस्तु, विश्राम करना चाहिये। जान–बूझकर प्रकृति की विपरीतता अपनाकर अन्तर्यामी को कृशता की अनुभूति कराना अपराध है।

श्री सिद्धिजी : प्रभो ! मैं भी यही प्रार्थना करने वाली थी कि आप विश्राम कुंज को पधारें, शयन करने के समय का अतिक्रमण हो गया है। चलिये, अभी चलिये नाथ !

[दोनों शयन–गृह प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

[श्री मिथिलेश-कुमार अपने माता-पिता और श्री गुरुदेव की अनुमति प्राप्त कर श्री सिद्धिजी के सहित श्री कमला जी के किनारे वन में पर्ण कुटी बनाकर निवास करने लगे। मुनि का वेष तथा आहार अपना कर वे सर्व-त्याग की मूर्ति बन गये। अहर्निशि श्री सीतारामजी के चिन्तन में ही दम्पति का चारु-चित्त लगा रहता है। क्रमशः विरह की दशों-दशाओं ने उन्हें वरण कर लिया है, प्रेम के सात्विक-भावों का उदय और अस्त उनके पार्थिव शरीर में नित्य-नित्य परिभाषित होता रहता है। अनिर्वचनीय-प्रेम की साकार-मूर्ति पति-पत्नी कुटीर के बाहर पाषाण-खण्ड पर बैठे हुये परस्पर प्रिय की चर्चा कर रहे हैं।]

पद : कामद गिरि में भगिनी-भाम।
राजि रहे बनि परम विरागी, बिखरी त्रिभुवन कीर्ति ललाम।
सुर-नर-मुनि औ नाग जनन कहँ, वितरि रहे बहु विधि विश्राम।
मिथिला-अवध अनाथ बनी है, बिनु सिय लछिमन सुन्दर श्याम।
त्रिविध वायु सम सर्व श्वास के, लगि रहि हर्षण हा सियराम।

भगवान भास्कर अस्ताचल को प्रवेश कर रहे हैं, अरुणिम-आभा वन-स्थली को अपने मधुर-प्रकाश से मधुरिम बना रही है, त्रिविध वायु बह रही है और पक्षियों का कलरव वन-प्रदेश को निनादित कर रहा है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) प्यारे ! आपके हृदय के हार, मेरे आराध्य-देव संप्रति कामद-गिरि पर निवास करते हुये वन-वासियों के भाग्य-वैभव का विवर्धन कर रहे हैं। हाय ! हमारे चर्म-चक्षुओं के विषय वे कब बनेंगे। हाय ! विधि की कैसी विडम्बना एवं विधान है कहीं तो आनन्द की बधाई बज रही हैं और कहीं रुलाई की ध्वनि गगन में गूँज रही है। अहो ! वास्तव में यही विधि-वैषम्य पुण्यात्मा और पापात्मा के पहचानने का निर्णय देता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! संयोगी के सुख से वियोगी कम सुखी नहीं होते, हाँ उनके सुख के प्रकार में अन्तर अवश्य होता है। संयोग-सुख शरीर का स्पर्श करता है और वियोग-सुख आत्मा का । संयोग-सुख में शरीर का सम्प्रयोग होता है, जिससे देह वैभव का वार्धक्य होता है, वियोग-सुख में आत्मा का सम्प्रयोग होता है जिससे आत्म-वैभव का आधिक्य अतीत दशा को प्राप्त हो जाता है, परन्तु आश्चर्य ! श्यामसुन्दर के संयोग-सुख में शरीर-शरीरी दोनों वृद्धिगत रहते हैं और वियोग में दोनों क्षीण-प्राय प्रतीत होते हैं, जैसे स्नेह के अभाव में बुझता हुआ दीपक । हाय !. हम अब भी जी रहे हैं, अपने भगिनि-भाम के अभाव में । आश्चर्य । महा आश्चर्य ! !

[रोते-रोते अधीर हो जाते हैं श्री लक्ष्मीनिधिजी]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) विरहेक्षण ! नृपति-नन्दिनी-नन्दनजू के बिना इस अपूर्ण, अभावमय और क्षण-भंगुर संसार के बीच में रहना संसारियों को ही सह्य है आप श्री तों सर्वदा अपने आराध्यदेव के अपुनरावर्ती-दिव्य-देश में निवास करते हैं, जहाँ उनका वियोग असंभव है अस्तु, आप इतनी विकलता का वरण न करें अन्यथा किंकरी आपके

दुख से अभिभूत होकर किंकर्त्तव्य–विमूढ़ हो जायेगी और आप श्री की सेवा संभाल न पाने से स्वरूप भ्रष्ट हो जायेगी। अस्तु, मेरे संरक्षक ! दासी की रक्षा के लिये तो धैर्य–धारण करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! तब मुझे श्याम सुन्दर रघुनन्दन का वियोग विस्मृति के गर्त में क्यों फेंक देता है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! जिस देश में आप श्री की सहज स्थिति हो गई है, उस देश में आपको अपनेपन का पता भी प्राप्त नहीं होता किन्तु उस देश की लीलाओं के प्रकार का आभास जब आप श्री के स्थूल–देह का स्पर्श करता है तब आपकी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में उसके प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वे तत्–तंत्–चरित्रों का अनुभव करने लगती हैं और तदनुसार सुखी–दुखी की तरह दिखाई देने लगती हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपकी बातें कर्णों को सुनाई नहीं देतीं, मन उन्हें मान्यता नहीं देता और बुद्धि उनका विमर्श नहीं करती। हाय ! क्या करूँ? सर्व–सुहृद श्यामसुन्दर के सौन्दर्य की उपासिका, मेरी आँखें अधीर हो रही हैं। हाय ! बिना देखे रहा नहीं जाता। हा ! रघुनन्दन ! हा ! मेरे प्राण–सखे !

[कहकर श्री लक्ष्मीनिधिजी मूर्छित हो जाते हैं। इतने में चित्रा का प्रवेश होता है।]

चित्राजी : (शिर झुकाकर) स्वामिनीजू के चरणों में बारम्बार प्रणाम है। हाय ! आर्यश्रेष्ठ तो वियोग की वह्नि से प्रदीप्त हो रहे हैं जिसकी ज्वाला से सारा सिद्धि–सदन प्रज्वलित हो रहा है । हाय ! कष्ट ! महाकष्ट ! !

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! चिरायु हो। बैठ जाओ। सहेली ! श्यामसुन्दर के सखाजी की विरह–वेदना दिनोंदिन परिवर्धित होती जा रही है, सूखकर शलाका बन गये हैं वे। वियोग–जनित शोक के शमन होने के लिये अनेक–अनेक उपाय करती हूँ किन्तु वे सब अपाय के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं! हाय ! जीवन–सर्वस्व की यह दैन्य–दशा अब आँखों से देखी नहीं जाती। कुलानुकूल–सांस्कृतिक–ज्ञान–संवर्धन के लिये श्री रामजी के व्यापकत्वादि–ऐश्वर्य का मंडन करने पर भी प्राणनाथ उसको अमान्य न कहकर राम के माधुर्य–महोदधि में डूबकर उसका खण्डन ही कर देते हैं।

चित्राजी : (साश्रु) स्वामिनीजू ! जिस दशा ने मिथिलेश–कुमार का वरण किया है, वही दशा अपने अधीन करके आपको विरह की भट्टी में भार के समान झोंकती रहती है, मैं जब–जब आप दोनों की ओर दृष्टिपात करती हूँ, तब–तब शोक का समीर उड़ाकर मुझे विस्मृति के गगन की अधिवासिनी बना देता है। हाय ! कहीं अपने को सम्हालने में असफल रही तो उपचार द्वारा प्रकृतिस्थ करके कुँअर–कान्ता को कुँअर की सेवा में संलग्न कैसे देख पाऊँगी। हाय ! वर्तमान जीवन बड़ा संशय–ग्रस्त है।

श्री सिद्धिजी : सहेली ! संसार को सहचरित्व का सर्वाङ्गीण दर्शन हमारी सहचरी में दृष्टिगोचर हो रहा है सखी की सहाय्य–सामग्रियों की प्रचुरता से इस आपत्तिकाल में भी औचित्य का अनादर करने में असमर्थ ही रहूँगी मैं।

चित्राजी : प्रेम–पंडिते ! आप श्री के अंग–अंग से रोम–रोम से पति–प्रेम की समुज्वल–किरणें अपने आलोक से हम लोगों को प्रेम–प्रकाश का वितरण कर रही हैं। आप

श्री के सतीत्व एवं प्रेम-प्राबल्य के कारण आपके श्री अंगों में सर्व-शक्तियों ने अपना वास-स्थान बना लिया है अतएव आप स्वयं सर्व समर्थ हैं स्वयं सिद्धिभूता निमिकुल की सर्वेश्वरी हैं। अपने परिकरों को आदर देना आपके अनुरूप है, सच पूछिये तो, मुझ में जो कुछ दृष्टि का विषय बन रहा है, वह आप श्री का ही वैभव है क्योंकि अहं दीन 'स्व' में जो कुछ स्वत्व सा परिभाषित होता है वह सहज ही स्वामी का होता है और तभी स्व-स्वामी सम्बन्ध की रक्षा होती है।

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! मैं अपनी विरह-व्यथा एवं प्रेम के सम्प्रवेग को सर्वदा संवरण करने की ओर स्वयं दृष्टि रखती हूँ, भयभीत भी हूँ, लगता है कि कहीं प्रेम सिन्धु की तली में मैं भी बैठ गई तो प्रेम-मूर्ति, प्राण-प्रीतम को जब-तब स्नेह-सागर में निमग्न होते देखकर उपचार द्वारा प्रकृतिस्थ करने का कैंकर्य कौन करेगी। अहो! प्राणेश्वर की कैंकर्य-बेला में मुझे यदि अर्ध चेतना भी साथ देती रहे तो येन केन प्रकारेण तुम्हारे सहारे स्वामी की सेवा से वंचित न रहूँ। यही एक इच्छा है।

चित्राजी : अमानिनि ! आपकी निर्मल कैंकर्य-निष्ठा आप श्री के स्वरूपानुरूप है। धन्य है आपके पतिव्रत-धर्म एवं पति-प्रेम को। किंकरियों के उपस्थित रहते हुये भी आप अपने प्राणनाथ की सम्पूर्ण-परिचर्या अपने हाथ से करने में ही प्रसन्नता को प्राप्त हुआ करती हैं। जय हो, हमारी स्वामिनि जू की सदा जय हो।

श्री सिद्धिजी : सहेली ! स्वरूप-रक्षा, निर्भ्रान्त उसी पर निर्भर है जिसके लिये किंकरी का स्वरूप है। चित्रे ! प्राणनाथ, प्रेम-मूर्छा को प्राप्त हैं, वियोग-वन की कंटीली-झाड़ियों में भ्रमण करने के कारण कण्टकों से विशेष बिद्ध हो गये हैं, अस्तु इन्हें प्रकृतिस्थ करके सुख पहुँचाने का प्रसाधन करना चाहिये।

चित्राजी : स्वामिनीजू ! उपचार द्वारा प्रकृतिस्थ करके सुनैनानन्द-वर्धनजू को श्री रामजी महाराज का चित्र दर्शन कराना उपयुक्त होगा क्योंकि कभी-कभी चित्र को देखकर मिथिलेश-कुमार श्री रामजी की अनुपस्थिति में भी उपस्थिति रहने के समान सुखानुभूति करते थे आप श्री को किंकरी की सम्मति मान्य हो तो तदनुसार कर्तव्य के निर्वाह में निर्विघ्न लग जाऊँ मैं।

श्री सिद्धिजी : बुद्धि-विशारदे ! तुम्हारी बुद्धि बडी ही विशद और विलक्षण है। तुमने सराहनीय-सूक्ष्म प्रावधान का संशोधन किया है, चलो .. हम लोग अब उक्त उपाय का अविलम्ब अवलम्बन लेकर जीवन-धन को सुख पहुँचाने की चेष्टा का विनियोग करें।

चित्राजी : बंहुत अच्छा स्वामिनीजू !

[दोनों लक्ष्मीनिधिजी को चैतन्य करने की चेष्टा करने लगती हैं। कुछ देर में, उपचार द्वारा वे प्रकृतिस्थ हो जाते हैं।]

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! श्यामसुन्दर रघुनन्दन का वह चित्तापहारक चित्र ले आओ जो हमारे प्राणधन को प्राण-प्रिय है उसे देखकर प्रियतम को शान्ति की समुपलब्धि होगी।

चित्राजी : अभी ले आई चित्र को, स्वामिनीजू ! (चित्र लाकर कुँअर के समक्ष रखती हैं) नाथ ! अपने आराध्य का दर्शन करें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (सजल नेत्रों से देखते-देखते विभोर होकर) रघुनन्दन ! आप श्री के दर्शन के अभाव में आकुलेक्षण हो रहा था, आप श्री ने अपना दर्शन-दान देकर

मुझे विरह वह्नि में जलने से बचा लिया। अहा ! आपके सौन्दर्य का सिन्धु मुझे अपनी ओर आकर्षित करके अपने वशीभूत कर रहा है। हाय ! मधुर भाषी ने दया–परवश होकर अपना दर्शन–दान तो दिया किन्तु मुझ से मधुरिम बोलों से न बोलने का व्रत क्यों ले लिया है !हाय ! मेरे मन–मोहन ! मन्द–मन्द मुस्कान की माधुरी विखेरकर मेरे मन को क्यों मथे जा रहे हैं हाय ! जले पर नमक घुरना क्या अच्छी बात है।

[श्री लक्ष्मीनिधिजी परिरम्भण करने की चेष्टा करते हैं और अधीर होकर प्रेम मूर्छा को प्राप्त हो जाते हैं।]

श्री सिद्धिजी : (साश्रु उपचार द्वारा जगाकर) जीवन–धन ! यह तो जानकी–जीवन जू का चारुतम–चित्र है जो श्यामसुन्दर ने स्वयं अपने श्याल को, अपनी अनुपस्थिति में अपने मिलन की आनन्द की अनुभूति कराने के लिए भेजा था अतएव आप रघुनन्दन के न रहने पर उनके चारु–चित्र का दर्शन कर–करके वियोग के अथाह सागर में डूबने से अपने को बचायें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्राण वल्लभे ! चित–चन्दन–रघुनन्दन का चित्र है यह ! अहो आश्चर्य ! मैंने समझा कि मेरे नयनों के तारे प्राण–प्यारे श्रीराम आ गये। भ्रम के कारण शोक–सागर में निमग्न हो गया कि मन–मोहन मुझसे बोल क्यों नहीं रहे हैं। अहा ! चित्र का सौन्दर्य अवश्य अपनी ओर आकर्षित करके वियोग की विस्मृति कराने का प्रयत्न कर रहा है।

श्री सिद्धिजी : राम–प्रिय ! आपके समक्ष चित्रा ने चित्र रखने का यही प्रयोजन सोचा है कि आप इसे देख–देख कर हृदय में संयोग–सुख का सुअनुभव किया करें। वास्तव में श्यामसुन्दर रघुनन्दन का यह चित्र चित्त में उनके मिलन–जन्य–सुख का संचार कराने में समर्थ है, यदि द्रष्टा केवल चित्र न समझे तो।

चित्राजी : स्वामिन् ! तमसाछन्न–आकाश के नीचे बैठना प्रकृति के प्रतिकूल है, अस्तु, कुटीर के अन्दर प्रविष्ट होने की कृपा करें। वहीं श्री श्रीधर–कुमारी जी आप श्री को श्रीराम–चरितामृत का पान करायेंगी जिसके लिए आपके श्रवण सदा आतुर बने रहा करते हैं। कहिये ठीक है न ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (अस्वस्थ से धीरे) चित्राजी !अवश्यमेव अब कुटी में प्रवेश करना चाहिए।

[ससिद्धि श्री लक्ष्मीनिधिजी कुटी में जाने के लिए प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

सप्तषष्टितमः दृश्यः ६७

[श्री सिद्धिजी विरह की दशों–दशाओं से व्यथित होते हुए भी पति–सुश्रूषा में लगे रहने की चेष्टा करती रहती हैं। एक दिन रघुनन्दन श्रीरामजी व विदेह–राजनन्दिनीजू के ध्यान में मग्न हो गईं, चिदाकाश में उन्हें युगुल–माधुरी का दर्शन–स्पर्श संप्राप्त होता है। कामद–गिरि के भीतर

दिव्य-वेश में दोनों परिकर-वृन्द से सेवित सिंहासनासीन है, श्री सिद्धिजी सामने सेवा में उपस्थित हैं।]

श्री सिद्धिजी : (स्वगत)प्रमोद-वन-विहारी का विशाल-वैभव आज कामद-गिरि की गुह्य-गुफा में, जो कुयोगियों को अदृष्ट रहता है वह मुझे दृष्टि-गोचर हो रहा है। अहा ! हमारे लोचन, लोक-लोचनाभिराम अपने श्यामसुन्दर को श्यामा के साथ क्रीड़न-क्रिया में तत्पर देखकर अतीतानन्द का अनुभव कर रहे हैं। वन-गमन का विभ्रम हमें अब तक शोक के सिन्धु में डुबोकर श्वास लेने में भी आपत्ति किया करता था किन्तु अब तो आनन्द ! आनन्द ! महा आनन्द !! मेरे ननद-ननदोई साकेत-सुख का सम्यक अर्जन और अनुभव कर रहे हैं। जय हो आनन्दकन्द जगत-वन्द्य-युगल-चन्द्र की...

पद : जय सिय जय सिय-वर सुखकन्दा, रहौ आनन्दा।
युगल-किशोर दिये गलबाहीं, निरखहु इक-इक के मुखचन्दा।
सेव करत सोहहिं निशिवासर, ऐसहि सखियन के बहु वृन्दा।
भाँति-भाँति की लीला करि-करि, बाँध परिकरन प्रेम के फन्दा।
हर्षण हास-विलास रसहिं को, सिद्धिहिं देत रहहु स्वच्छन्दा।

श्रीरामजी : मेरी श्याल-वधू स्वगत कुछ वार्ता का विनिस्रण कर रही हैं किन्तु स्पष्ट-वाणी के विसर्ग बिना वक्ता के मनोभाव अन्य के द्वारा हृदयङ्गम नहीं किये जा सकते। कहिये, कुँअर-कान्ते ! क्या गुन गुना रही हैं? श्रवणों की आतुरता का अध्याय आप पूर्ण कर सकती हैं क्या ?

श्री सिद्धिजी : श्यामसुन्दर! सर्व-काल, सर्वेन्द्रियों की सर्व-चेष्टाओं के विषय तो आप श्री हैं, अलग से अन्य विषय का अन्वेषण आपकी अबोध किंकरी से अशक्य और असंभव है अतएव स्वगत की संचेष्टा में सीतारमण के अतिरिक्त और क्या होगा ?आप ही बतलाने की कृपा करें।

श्रीरामजी : प्रेम-प्रिये ! अवश्यमेव आपका अन्तःकरण अपने आराध्य का अविरत-अनुसंधान एवं अनुभव किया करता है तदनुसार आपकी स्थूल-देह में उसकी प्रतिक्रिया का निदर्शन जब-तब होता रहता है। आप यह बतलाने का कष्ट करें कि अभी अपने आप क्या वार्ता कर रही थीं।

श्री सिद्धिजी : अन्तर्यामिन ! आप श्री से अन्तर की वार्ता छिपाने से भी क्या छिपाई जा सकती है ? मेरे प्रियतम ! वर्तमान-मुहूर्त के पूर्व-मुहूर्त में दासी आप श्री की वन-यात्रा की असहिष्णुता एवं वियोग-जन्य-विकलता के कारण विस्मृति की शैया पर सो रही थी किन्तु आश्चर्य ! अब आपको बिना अयोध्या लौटे ही साकेत-सुषमा के सादृश्य सुख का संभोग करते देखकर सुख के सिन्धु में शयन कर रही है। प्रभो ! आप श्री ही इस चमत्कारपूर्ण-कृत्य के कर्ता और कारयिता हैं। किंकरी की बुद्धि में गुह्यतम-अर्थ आपके आलोक से ही आलोकित होगा, यह दृढ़-निश्चय हृदय में उतरकर अपना आवास बना लिया है जिसमें शंका, संशय और संभ्रम के आने के लिये, किंचित अवकाश का भी अभाव हो गया है।

श्रीरामजी : (मन्द मुस्कान के साथ) शुभ-दर्शने ! चंचलता-शून्य आपका चित्त अपने ध्येय में तदाकार होकर चैतन्य-धन से अपृथक हो गया है और अपनी पूर्व-कामना

की वायु के द्वारा चिदाकाश में चिदानुसार दृश्य उपस्थित कर लिया है। वास्तव में यह सब आपके संकल्प-हीन मन का विपुल-वैभव है जिसमें परिकरों समेत हम और आप परस्पर उसी प्रकार दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जैसे स्वर्ण-शिला में खुदे हुये बहुत से चित्र।

श्री सिद्धिजी : कलानाथ ! मेरे मन का व्यापार और अव्यापार आप श्री के योगि-दुर्लभ-दर्शन का कारण कदापि नहीं हो सकता। वास्तव में यह सब कलाधर की कला एवं कृपा का कौशल्य है, निपुण-नटवर का निर्मल-नाट्य है, आनन्द के आकाश का असम्भव स्पर्श है और दृश्य को उदरस्थ करने वाले अदृश्य-तत्व का दृश्य के उदर में औदार्य-पूर्ण दर्शन है।

श्रीरामजी : माधुर्य-प्रिये ! आप श्री के समुज्वल-ज्ञान की गरिमा एवं उस परिपक्व-ज्ञान के फल के रस की रसिकता ने ही राम के रूप का निर्माण करके चराचर-जगत के नयनों का विषय बना दिया है। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि आपका कथन आपके स्वरूपानुरूप और मेरा मेरे अनुरूप है।

श्री सिद्धिजी : वदतां-वर ! इतना अवश्य बतलाने की कृपा करें कि वह चित्रकूट का प्राकृतिक-दृश्य अप्राकृत के रूप में क्यों परिवर्तित हो गया ? और आपश्री का मुनि-वेश, राजवेश से संयुक्त होकर हमारे नेत्रों को आनन्द का अर्जन और उसकी अनुभूति कराने वाला क्यों बन गया ? क्या यह जादूगर का जादू है या सत्य का सत्य-संदर्शन है?

श्रीरामजी : प्रेम-मूर्ते ! प्राकृत और अप्राकृत युगल-विभूतियों का सर्वश्रेष्ठ-स्वामी एक है। वह अपने संकल्प से सब कुछ करने में समर्थ है। वह प्राकृत-तत्व के प्रत्येक-परमाणुओं में अपने अप्राकृत-तत्वों एवं पदार्थों के साथ पूर्ण-रूपेण प्रविष्ट होकर प्राकृत-तत्वों तथा तद्विषयक-चेष्टाओं को अपनी सत्ता से सत्य की भाँति समझने में सहायक और कारण होता है। प्रिये! पूर्णतम-परमात्मा अपने प्रेमियों की अधीनता के आनन्द का अनुभव करने के लिये एवं स्नेहियों को अपना अनुभव कराने के लिये उनके स्वथ्य-चित्त के संकल्पानुसार चिदाकाश में अपनी रूप माधुरी की सुधा का संचार करता हुआ अपनी अनाख्येय-लीला का दर्शन करा देता है। उसे अत्र-तत्र गमनागमन नहीं करना पड़ता क्योंकि वह सर्वत्र-सर्वकाल-पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित है। उसको एक साथ अनेक देशों में की गई अनेक प्रकार की लीलाओं में अन्तर नहीं पड़ता इसलिये प्राकृत और अप्राकृत-देश में आपके देखे हुये दृश्य सर्वथा सत्य हैं और आपका आराध्य दोनों में सम है। आप आश्चर्यपने का अनुभव करके विस्मय के वन में भ्रमण न करें।

श्री सिद्धिजी : सर्वज्ञ ! अपने अन्तःकरण के जिस भाव को जीव नहीं जानता, उस भाव का ज्ञान बिना साधन के आपके सामने समुपस्थित रहता है अतएव आप श्री से दासी का मनोभाव अज्ञात नहीं है। अन्तर्यामिन् ! इच्छा यह होती है कि साम्प्रत दृश्य का दर्शन मेरी आँखों से ओझल न हो। आप सर्व-समर्थ हैं, भक्त-वाञ्छाकल्पतरु हैं इसलिये आपको अपनी किंकरी की कामना पूर्ण करना श्रमसाध्य नहीं अपितु कृपा साध्य है।

श्रीरामजी : प्रेम-विग्रहे! महा-महिम्न-महेश्वर की कृपा-शक्ति का सम्प्रभाव आपके मनोरथ को पूर्ण करने में किंचित आनाकानी नहीं करता किन्तु उसकी लीला-शक्ति का सामर्थ्य किसी को स्वतन्त्र-पाठ नहीं करने देता। तच्छक्ति के संविधान से हमको वन-लीला करने का तथा आपको कमला किनारे कुटी का निर्माण कर उसमें निवास करने

एवं विरह की व्यथा का आदर्श उपस्थित करके प्रेमियों के समाज को प्रेम–प्रशिक्षणार्थ–प्रेम की पाठशाला की प्राचार्या बनने का पाठ करना अवश्यम्भावी है। आप चिदाकाश में हमारे दर्शन–स्पर्शन का सुख–संभोग कर रही हैं और आपके पति–परमेश्वर आपके पार्थिव–शरीर को प्रकृतिस्थ करने का प्रयत्न कर रहे हैं अतएव तत्–सुख–सुखी हमारी सरहज को अब प्रकृतिस्थ होकर हमारे प्राण–प्रिय–श्याल श्री लक्ष्मीनिधिजी की सेवा में संलग्न हो जाना चाहिये।

श्री सिद्धिजी : हैं ! आप श्री के आत्म–सखा तथा श्री सियाजू के बड़े भ्राता यहाँ नहीं हैं क्या ? हाय ! हाय !!आपकी वियोगाग्नि में वे भस्म तो नहीं हो गये होंगे ? हाय ! मैं अपने प्राण–वल्लभ को क्यों नहीं देख रही हूँ ? हाय !प्रभो ! प्रियतम के बिना आपको अकेला मेरा कैंकर्य कैसे सुखद हो सकेगा? हाय ! हाय !! मेरे प्राणनाथ ! अपनी प्रियतमा से वियुक्त क्यों हो गये ? हाय ! किस अपराध पर आपने अपनी अनन्या दासी का परित्याग किया है ? हाय ! हाय !! हमारे ननँद–ननदोई का वदनाम्भोज आप श्री के मुख–सूर्य के बिना अब सदा के लिये अविकसित ही रहेगा। हाय ! मेरे सर्वस्व ! अब अपनी किंकरी को अपनी सेवा में शीघ्र बुला लीजिये। हाय ! आपके बिना क्षणमपि आत्मा को सहने में सक्षम नहीं हो सकती हूँ मैं। हाय ! हाय !!

[...कहकर चिदाकाश ही में रोने–चिल्लाने लगने के कारण श्री सिद्धिजी उसी प्रकार प्रकृतिस्थ हो जाती हैं, जैसे स्वप्न का द्रष्टा किसी भय या उद्वेग को पाकर जाग जाता है।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (सिद्धि के सचेत होने पर) प्रियतमे! आपके स्वरूपस्थ हो जाने पर आपके अङ्ग–अङ्ग और रोम–रोम से आनन्द की ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी तदनन्तर ही आपके मुख से हाय ! हाय !! की शब्दावली तथा नेत्र से नीर–विनिस्सृत होना श्रवण करने तथा देखने को मुझे मिला। आश्चर्य–चकित मैं, आपकी उस परिस्थिति का अङ्कन करने में यत्नशील होकर भी असमर्थ रहा अतएव इस विषय का ज्ञान यदि आपके चित्त–पटल पर अंकित हो तो मुझसे उस रहस्य का उद्घाटन करके संशयात्मा के संशय का शमन करें।

श्री सिद्धिजी : जीवन–धन ! मैं अचेतन–अवस्था के आकाश में अवध–नरेन्द्र के कुमार को विदेह–वंश–वैजयन्ती विदेह–नन्दिनीजू के साथ समस्त–परिकर–वृन्दों से सेवित स्वर्ण–सिंहासनासीन देखकर आश्चर्य के सागर में गोते लगाने लगी। श्री श्याम सुन्दर ने अपनी वचन–किरणावली से मेरे मोहान्धकार को प्रनष्ट करके मुझे प्रकाश–स्वरूप बना दिया किन्तु किंचित काल में ही आप श्री के अदर्शन से मैं चीख मारकर रोने लगी और हाय ! हाय !! शब्द के साथ जाग जाने पर अपने प्राणनाथ को अपने समीप बैठे हुये देखकर स्वप्न के भ्रम और शोक को शमन करने में समर्थ हुई। प्यारे ! आपका वियोग दासी को अति ही असह्य है, जिसका परिज्ञान युगल–नृपति–नन्दिनी–नन्दनजू को भली–भाँति है कि उनकी उपस्थिति में भी आपकी अनुपस्थिति प्राणों को कंठ में पहुँचा देती है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! आपका पति–प्रेम पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है जिसने पति को परमेश्वर के आसन में आसीन कर आपको परमेश्वरी के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। अहो ! प्रेम की परमोज्वलता का प्रभाव क्या नहीं कर सकता। प्रिये! यह आपके प्रेम का ही चमत्कार है कि हम दोनों अहं के आसन से उतरकर परमात्मा

के अतिरिक्त अपने को अकिञ्चित ही पाते हैं। धन्य है आपके अनिर्वचनीय अनुराग को एवं तज्जनित स्वरूपानुरूप सद्व्यवहार को।

श्री सिद्धिजी : नाथ ! क्या कह रहे हैं ? किंकरी में कुछ भी नहीं है जो कुछ प्रतीति, मेरे व्यक्तित्व में प्राणेश्वर को हो रही है, वह दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान आप श्री के गुण-गणों का ही प्रकाश है। धन्य है आपके उदार और अकथनीय गुणों के वैशिष्ट्य को।

चित्राजी : स्वामिनीजू ! अर्ध-रात्रि से अधिक रात्रि व्यतीत हो चुकी है अतएव मेरी प्रार्थना है कि आप दोनों अपने-अपने पर्णासन पर शयन करने के लिये प्रस्थान करें।

श्री सिद्धिजी :कालज्ञ ! चित्रा की प्रार्थना अवश्य स्वीकर करने योग्य है, आज्ञा की प्रतीक्षा में किंकरी खडी है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! समय का अतिक्रमण जान-बूझकर नहीं करना चाहिये यद्यपि निद्रा-देवी नेत्र-देश से निकलकर न जाने कहाँ चली गई है फिर भी शयन-मुद्रा का अवलम्बन लेकर ही आराध्य का स्मरण करना चाहिये।

[दोनों शयनासन को प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

अष्ट षष्टितमः दृश्यः ६८

[श्री लक्ष्मीनिधिजी ,श्रीरामजी की बाल-लीला का अभिनय देख रहे थे। माँ कौशल्या गोद में लिये लाल को प्यार कर रही थीं.....]

पद : अपने अङ्क लिये कौशल्या, प्यारति रामहिं प्रेम पिये।
लाल, वत्स कहि कहि पुचकारति, चुम्बति मुख कहँ मोद जिये।
हृदय लाय हलरावति सुख सनि, गावति लोरी लुब्ध हिये।
कबहुँ मुदित पय-पान करावति, निरखति मुख निज नयन दिये।
हर्षण हर्ष समात हिये नहिं, आनँद स्मृति हीन किये।

[अभिनय-स्वरूप को देखते-देखते, सत्य समझकर श्री रघुनन्दन की वन-गमन-लीला को भूल गये श्री लक्ष्मीनिधिजी और बालक राम को अपनी क्रोड़ में लेकर उनको केलि कराते-कराते प्रेम-समाधि में स्थित हो गये। लोग उपचार के द्वारा उन्हें जगाने के लिये उद्यत होते हैं किन्तु श्री सिद्धिजी की सम्मति-अप्राप्ति के कारण प्रकृतिस्थ करने से विरत हो जाते हैं।]

श्री सिद्धिजी : (लक्ष्मीनिधिजी के समीप बैठी हुई) चित्रे ! अभिनयी-बालक राम के स्वरूप को हृदय से लगाकर प्राणेश्वर प्रेम-समाधि के सागर में सम्प्रविष्टि हो गये हैं। हाय! कुछ सूझ नहीं रहा है, इनके वचन-सुधा का पान किये बिना मेरे चित्त में चैन नाम की कोई चीज नहीं है। हाय ! यद्यपि कृश-शरीर होते हुये भी हमारे प्रियतम के मुख की कान्ति अद्वितीय और आकर्षक है, बाल-तरणि जैसे तेज का दिव्य-दर्शन मुख की ओर दृष्टिपात करने से दृष्टिगोचर हो रहा है किन्तु वचन-किरणों का विकास जब तक

नहीं होता तब तक परिकरों के मुखाम्भोज म्लान अर्थात अविकसित ही रहेंगे। हाय! जीवन-नाथ की जीवन-संगिनी, उनकी वचनावली की सुधा श्रवण-पुटों से पीकर, परिकरों के मुरझाये हुये मुख को कब निर्भय, निर्मल, सुप्रसन्न और सुखी देखेगी।

चित्राजी : स्थित-प्रज्ञे ! आपका कथन अक्षर-अक्षर सत्य है। मिथिलेश-कुमार के वाग्-विसर्ग के अभाव में हम लोगों के प्राण अधिकाधिक अधीर हो रहे हैं। श्री नरपति नन्दनजू के श्रीमुख की प्रसन्नता यह संदेश दे रही है कि कुँअर समाधि में अनिर्वचनीय आनन्द का उपभोग कर रहे हैं इसलिये अधीरता की दशा में धैर्य का वायु प्रवेश कर-करके हमारे प्राणों को प्राणित कर रहा है।

श्री सिद्धिजी : बुद्धि-विशारदे ! अवश्यमेव अन्तर-जगत की ज्योति जैसे बाह्य-जगत को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार अन्तर-मन के भावों का प्रतिबिम्ब मुख के दर्पण में पड़ा करता है। प्राणनाथ के सुन्दर-सुविकसित-मुखाम्भोज का दर्शन अन्तःकरण की प्रसन्नता का प्रत्यक्ष प्रमाण है अतएव यह किंकरी भी अधीरता और धैर्य के समिश्रण के सहारे प्रिय के न बोलने पर भी कृच्छता पूर्ण प्राण-धारण करने में सक्षम हो रही है अन्यथा प्राणनाथ के बिना उनकी प्रियतमा को प्राण धारण करने की सामर्थ्य कहाँ ?

चित्राजी : (साश्रु भरे कण्ठ से) स्वामिनीजू ! क्या नृत्य, गीत, वाद्यादि-औपचारिक-सामग्रियों द्वारा आप श्री के प्राण-वल्लभ को सचेष्ट करना चाहिये ? हाय ! सीताग्रज की अचेतनावस्था दासी को अचेत बनाकर कहीं स्वामिनीजू के कैंकर्य से विमुख न कर दे। हाय ! क्या करूँ?

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) चित्रे ! आराध्य देव की अनुचरी किंकर्तव्य-विमूढ़ है किन्तु अपना अभिमत है कि कुछ काल प्रतीक्षा करनी चाहिये। सुख की समाधि से अपने आप जाग जाना मुझे अधिक हितकर प्रतीत होता है क्योंकि आनन्द की अनुभूति एवं उसके अभाव के तारतम्य का परिशोधन ही प्राणनाथ के सुख-दुख का परिशीलन कराके कर्त्तव्यारूढ़ बनाने में समर्थ हो सकता है।

चित्राजी : (साश्रु) कुँअर-वल्लभे! श्री मन्महाराज-मिथिलेशजू को कुमार के समाधि में निमग्न होने का समाचार तो प्राप्त हो गया होगा अब । लगता है महाराज पधार जाते तो उनकी अद्भुत-वक्तृत्व-शक्ति के साहाय्य से अबोधिनी अबलाओं को परिस्थिति का परिज्ञान हो जाता।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) अवश्यमेव इस आकस्मिक-समाचार से मेरे परम पूज्य श्वसुर-देव अवगत ही नहीं हो गये होंगे अपितु अविलम्ब यहाँ आते भी होंगे क्योंकि वे वात्सल्य भाव से भरी पूर्ण प्रेम की प्रतिमा हैं और व्यक्तित्व को चमत्कृत करने वाले सर्व-गुणों की समष्टि सृष्टि के साकार-विग्रह हैं।

[श्री निधि, प्रेमनिधि, श्रृंगारनिधि, गुणनिधि प्रधान लक्ष्मीनिधिजी के अनुजों का प्रवेश और श्री सिद्धिजी को श्री लक्ष्मीनिधिजी के समीप बैठी, दर्शन करना।]

अनुजगण : (श्री सिद्धिजी को प्रणाम करके साश्रु) भाभी जी ! भैया अब तक समाधि-जन्य सुख के सिन्धु में निमग्न हैं। हाय ! हम लोगों को उनकी मधुर-मधुर-सुधा-संसिक्त-वचनावली को श्रवण किये बिना, सुख का स्वप्न भी दृष्टि-पथ में नहीं आ रहा है।

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) प्रिय राजकुमारों ! आप लोगों के बड़े भ्राता इस स्थिति को प्राप्त होकर स्वयं तो परम प्रसन्न हैं क्योंकि इनका प्रफुल्ल-मुख-कमल इस निश्चय को दृढ़ कर रहा है किन्तु सम्प्रति सबकी प्रसन्नता इनकी मौन भाषा से सन्तुष्ट न होकर ग्लानि के रूप में परिवर्तित हो गई है, यह आप लोगों का कथन सर्वथा सत्य है। मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ हूँ, श्रीमान दाऊजी व आप सबकी सूझ के अनुसार ही कार्य करना श्रेयस्कर होगा क्योंकि हमारे श्वसुर देव का व्यक्तित्व सभी प्रकार के ज्ञानों का आधार, तेजस्वी, प्रभावशाली और आकर्षक है।

अनुजगणः (साश्रु) भाभीजी ! हम लोगों के प्राण, भैयाजी की अमृत-वर्षिणी-दृष्टि एवं प्यार-भरी-सुधा-स्वरूपिणी-वाणी से प्राणित हो रहे हैं, आत्म-अन्वेषण करने पर यह प्रतीति होती है कि इन दोनों के अभाव में हम सब अनुजों का अभाव हो जायेगा। हाय ! भैयाजी के बोल का अमृत-घोल पिये बिना उनके बन्धुओं को धैर्य नहीं, इसलिये कीर्तनादि श्रेष्ठ-साधनों के सहारे इन्हें प्रकृतिस्थ करना चाहिये।

श्री सिद्धिजी : मेरे प्रिय देवरगण ! आप लोगों का भ्रातृ-स्नेह अद्वितीय और अनिर्वचनीय है जिसे मैं वाणी के द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ हूँ, आप लोगों के अनुभव जन्य आनन्द के प्रकाश एवं प्रेम का पुट दिये हुए विशुद्ध-व्यवहारों से अनुमान के प्रमाण द्वारा वह अन्य जनों के ज्ञान का विषय बनता है आपके अनुजीय-अनुराग-पूर्ण-आचरणों की जय हो, जय हो,। अपने जेष्ठ श्रेष्ठ-भ्राता के आंशिक वियोग की कल्पना से असहिष्णुता का अनुभव करना आप सबके स्वरूपानुरूप है। श्री हरि-संकीर्तन के द्वारा अपने भैया को प्रकृतिस्थ करने का उपाय कहीं अपाय के स्वरूप में परिवर्तित हो गया तो पश्चाताप के आघात से आकुल-व्याकुल बने रहने के अतिरिक्त कुछ हाथ न लगेगा क्योंकि कहीं-कहीं कीर्तन-सुधा अचेष्ट प्राणी को सचेष्ट करती है और कहीं-कहीं सचेष्ट को भी अचेष्ट बना देती है। आनन्द में निमग्न आपके भ्राता को उपचार द्वारा अकस्मात प्रकृतिस्थ करने से उनकी सुखानुभूति का दृश्य दूर हो जायेगा, दृश्य की अनुपस्थिति में आकुलता वश कहीं हृदय की गति में अवरोध न हो जाय। अस्तु, श्रीमान दाऊजी की इच्छा एवं आज्ञा के अनुसार उनकी अध्यक्षता में ही आप लोगों का करणीय कृत्य होना चाहिये ऐसा स्वयं का अभिमत है।

अनुजगण : भाभीजी ! आपकी सुन्दर-सूक्ष्म-बुद्धि के वैशिष्ट्य एवं वैलक्षण्य की सदा जय हो। आप श्री का सुझाव बहुत विशुद्ध एवं ग्रहणीय है आपने हम लोगों को एक नई दिशा दी है, जिसकी ओर मुख फेरने से इच्छित-सुख की सम्प्राप्ति में कोई विघ्न-बाधा नहीं पहुँचा सकता हम लोग ईश्वर की मानसिक प्रार्थना व प्रभु की अनुकम्पा से अपने भैया को शीघ्र सचेत-दर्शन की लालसा से जीवन धारण किये रहेंगे।

[श्री मिथिलेश जी महाराज श्री सुनैनाजी सहित पर्ण-कुटी में प्रवेश करते हैं, श्री सिद्धिजी उठकर प्रणाम करते ही झमकर पृथ्वी में बेसुध गिर जाती हैं, श्री सुनैनाजी अपने अंक में अपनी पुत्र-वधू का शिर लेकर सचेत करती हैं ततपश्चात् दम्पति श्री लक्ष्मीनिधिजी को प्रसन्नता के तेज से दैदीप्यमान देखते हैं, मुख की कान्ति बिखर-बिखरकर चारों ओर अद्भुत-प्रकाश-प्रदान कर रही है, रोम-रोम से राम-नाम की मधुर-ध्वनि

कर्ण-पुटों में प्रवेशकर, श्रवणवन्तों को सुख पहुँचा रही है। प्रेम के दिव्य-प्रकाश से निकट-देश के जड़-चेतन प्रेममय दृष्टिगोचर हो रहे हैं। श्री सिद्धि कुँअरिजी समयानुसार आसनादि के द्वारा पूजन करके अपने सासु श्वसुर को पुनःपुनः प्रणाम करती हैं। राजकुमार लोग भी सम्मान देते हुये महाराज को प्रणाम करते हैं। श्री जनक-सुनैनाजी अपने पुत्र के निकटतम-देश में बैठकर उनके रोम-रोम से निकलती हुई श्रीराम नाम की ध्वनि सुन-सुनकर प्रेम-पूर्ण-अश्रु प्रवाह कर रहे हैं।]

श्री मिथिलेशजी : राजकुमारों ! तुम्हारे बड़े-बन्धु की समाधि कैसे और कब लगी ? अहो ! मेरे वंश का अवतंश आज अपने पिता के हृदय का हार नहीं बन रहा है अस्तु सीरध्वज की उरस्थली सूनी-सूनी सी लगकर शोभायमान नहीं हो रही है।

अनुजगण : श्रीमान् बड़े पिताजी ! भाभीजी के नेतृत्व में श्रीराम-जन्म की अनुकरण-लीला का आयोजन गत-रात्रि के समय आयोजित किया गया था उस दृश्य के द्रष्टा बड़े भैया सहित हम सब उनके अनुज थे। अभिनय के बालक राम का दर्शनकर, भैयाजी श्रीरामजी के वनवास-जनित-व्यथा को बिलकुल भूल गये और बालक को हृदय में लगाकर आलिङ्गन-जन्य आनन्द से विभोर बन गये, तब से हम सब भैया के शरीर की संरक्षा करते हुये सचेत होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हाय ! भैयाजी की वचन-किरणावली के प्रकाश बिना हम लोग निबिड़कानन की निबिड़तम-आँधियारी-रात्रि में भटक रहे हैं।

श्री सुनैनाजी : (साश्रु) मेरी प्रिय-पुत्र-वधू ! राजकुमारों के कथन के अतिरिक्त कोई और कारण भी है क्या ? अहो ! मेरा लाल श्रीराम के हृदय-कमल के सिंहासन पर समासीन होने के कारण उनके प्रेम रूपी अमृत से संजीवित बना हुआ है अन्यथा उसके अम्बा की दुर्दशा दुख-स्वरूप हो जाती।

श्री सिद्धिजी : अम्बाजी ! सुख की समाधि में निमग्न आपके कुँअरजी का विकसित-मुखाम्भोज ही बता रहा है कि आप अपने भगिनि-भाम के वियोग की स्मृति से हीन होकर अभिनय के बालक राम पर विमुग्ध होकर परमानन्द की पयस्विनी में डूब गये हैं। किंकरी की जानकारी में अन्य कोई उपकरण-सामग्री समाधि की सहायक नहीं हुई है।

श्री सुनैनाजी : (साश्रु कुँअर के मुख की ओर देखकर) प्राणनाथ ! कुँअर की दशा को देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रही हूँ, प्राण छटपटा रहे हैं, समाधि से जग जाने का कोई उचित-उपाय हो तो बतलाने की कृपा करें जिससे ललन के मुख से निकली हुई मधुर-वाणी को शीघ्रातिशीघ्र सुन सकूँ। प्रभो ! जननी का हृदय जनार्दन भगवान ही जानते हैं। हाय ! ब्रह्मविद-वरिष्ठ-ज्ञान-मूर्ति के पत्नीत्व-पद को पाकर भी ललन की ललित-वाणी को श्रवण किये बिना कलेजे के टुकड़े-टुकड़े से हो रहे हैं। सिद्धा की दशा की गाथा का क्या गान करूँ?

श्री मिथिलेशजी : प्रिये! समाधि से विरत करने के उपचार तो अनेक हैं किन्तु परिणाम संशयात्मक है। प्रथम तो भगवद्भाव में निमग्न भागवत को उस आनन्द से अलग कर देने की चेष्टा करते ही भागवतापचार हो जाता है दूसरे प्रकृतिस्थ करने का साधन

स्मृति के आसन पर कुंअर को बैठा भी सकता है और आनन्द के अकस्मात–वियोग से जागते ही हृदय की गति को अवरुद्ध भी कर सकता है, अतः संशय की अंधेरी–रात में भटककर हम भी आप जैसी आकुलता के वरणीय बने हुये हैं।

श्री सुनैनाजी : प्राणेश्वर ! क्या कुँअर को आपके श्री चरणों में प्रणाम करते अभी न देख सकूँगी। हाय ! चित्त को समाधान कैसे हो ? जबकि नाव के डगमगाने से नाव में चढ़ने वालों जैसी दशा सम्पूर्ण–परिवार को प्राप्त है।

श्री मिथिलेशजी : प्रियतमे ! कुँअर बिना उपचार के स्वयं समय आने पर प्रकृतिस्थ हो जायेंगे, आप चिन्ता की चिता में मत जलें। हठात् जगाने से असफलता की ही संभावना है।

श्री सुनैनाजी : प्राणनाथ ! कितना समय व्यतीत होगा कुँअर के सचेत होने में । हाय ! आतुरता की बलिहारी ! अरे ! आतुर की अभिरुचि की अपूर्णता उसे क्षण–क्षण में अस्वस्थता के आसन पर आसीन करने के लिये स्वयं आतुर हो जाती है।

श्री मिथिलेशजी : प्रिये ! कोई नियम नहीं है इसका। अल्प समय में भी कुँअर अन्तर–जगत से वाह्य जगत में सानन्द आ सकते हैं और अधिक से अधिक समय की प्रतीक्षा इनके जागने में हम लोगों को करनी पड़े तो कोई असंभव और आश्चर्य नहीं। इसके प्रमाण में कितने भाव–समाधिस्थों की कथायें सभ्य–समाज में गाई जाती हैं, स्वयं कुँअर की जन्मना–समाधि से लेकर अब तक की, कई स्थितियों का दर्शन आप कर चुकी हैं, अस्तु, चिन्ता न करें।

श्री सुनैनाजी : प्राणधन !कुँअर के शरीर की सुरक्षा का संविधान आप श्री को ही सोच–समझकर सेवक–सेविकाओं एवं पुत्र–वधू तथा कुँअर के अनुजों को बतलाना पडेगा।

श्री मिथिलेशजी : पुत्र–वत्सले ! यहाँ सभी लोग विद्यमान हैं, मेरी बतलाई हुई वार्ता को श्रवण कर चित्त की भीति पर चित्रित कर लें। कुँअर को योग–निद्रा से जगाने के लिये किसी प्रकार की चेष्टा कोई किसी समय न करें। कुँअर को गर्मी सर्दी से बचाने के लिये अनुकूल–वस्त्रों से लेटे हुये शरीर को ढक दिया करें। सुन्दर सुगन्धित–पुष्पों का बाहुल्य, इत्रादि–गन्धों का सैचन्य और पवन का यातायात कुँअर की गुफा में सर्वदा बना रहे। कैंकर्य करने वाले कुँअर के जाग जाने पर जल से आचमन कराकर, जल ही पान करने को दें। समय–समय पर हम स्वयं आते रहेंगे। कुँअर की देह और आत्मा के वास्तविक संरक्षक वे ही हैं जिनके ध्यान में आपका प्रिय पुत्र निमग्न है। हमने वाह्य–उपचारों को सुनाकर, केवल स्वयं का कर्त्तव्य किया है।

श्री सुनैनाजी : मेरी पुत्र–बधू ! निमिकुल की नवल–कीर्ति को वृद्धिगत करने वाली उभय–कुल की दीपक हो। तुम सब प्रकार से अपनी ननँद सीता के समान पति–परायणा एवं पति–प्रेम की प्रतिमा हो। तुम्हारा अहिवात अचल रहे यह मेरा आशीर्वाद है।

[श्री सिद्धिजी सुनैनाजी के चरणों में लिपट जाती हैं, पुनः श्री मिथिलेशजी महाराज को प्रणाम करती हैं।]

श्री मिथिलेशजी : पुत्रि ! सौभाग्यवती भव ! चिरञ्जीवी भव ! कल्याणी भव ! सद्गुण-स्वरूपिणी भव ! परमार्थ-रूपा भव! प्रेम-रूपाभव ! और आनन्दमयी, मंगलमयी, विज्ञानमयी, परम-पवित्रा भव ! कुँअर की सेवा में सदा सादर संलग्न रहना, चिन्ता को हृदय में स्थान मत देना। कुमार के अनुजगण भी अपने बड़े भ्राता की सेवा के लिए अपने सदन-सुख का सर्वथा परित्याग कर यहाँ ही वास कर रहे हैं और हम भी समय-समय पर नित्य ही आते रहेंगे। श्री गुरुदेव की कृपा से सर्व-भावेन् सर्व-प्रकारेण मंगल ही मंगल होगा!

[श्री सिद्धिजी के शिर में हाथ-स्पर्श करते हुये दुलार करते हैं।]

श्री सुनैनाजी : पुत्र-वधू ! अपने श्वसुर-देव के कथनानुसार कुसमय का सम्मान करते हुये तुमको कालक्षेप करना है, भला सोचो तो एक पुत्रा-जननी की व्यथा अपने लाल के बिना वार्तालाप के कैसी होती होगी। अस्तु, मुझे देखकर धैर्य धारण करो, चिन्ता की चिता में जलने से सेवा-धर्म की हानि होगी।

श्री सिद्धिजी : अम्बाजी ! आप और श्रीमान दाऊजी के चरण-कमलों की सेवा से दासी वंचित है इस वार्ता का स्मरण मुझे ग्लानि के गर्त में गिराये बिना नहीं रहता किन्तु क्या करूँ? विधि का विधान बडा बलवान है अपने परम-पूज्य सास और श्वसुर देव की आज्ञा सर्व-भावेन शिरोधार्य है।

श्री मिथिलेशजी : (उपस्थित जनों से) अब हम राज-सदन को जा रहे हैं। आवश्यक और अनिवार्य राजकीय-कृत्यों का सम्पादन करना राज-धर्म के स्वरूपानुरूप होने से मुझ से उनका परिहार असंभव है। किञ्चित कामना की पूर्ति पर उछल-कूद मचाने वाले एवं अल्प-कष्ट से असहिष्णु बन कर मुरझा जाने वाले लोगों को संत-शास्त्र और गुरु के वाक्यों तथा हमारे जामाता श्रीराम के पवित्रतम चारु चरित्रों का अनुकरण करना चाहिये। अस्तु, आप सब सजग रहकर धैर्यवान बने रहेंगे।

उपस्थित जन : (शिर झुकाते हुए) श्रीमन्महाराज पधारें भवन को। यहाँ आप श्री के अनुचरों से श्री कुँअर जी की सेवा में त्रुटि होना अशक्य और असंभव है।

[श्री सिद्धिजी अपने सास-श्वसुर के चरणों में प्रणाम कर पुनः आशीष ग्रहण करती हैं। उपस्थित समाज के प्रणाम करने के अनन्तर महाराज मिथिलेशजी श्री सुनैनाजी के सहित रथ में चढ़कर प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

- - -- - - - -

एको न सप्तितमः दृश्यः ६९

[श्री सिद्धिजी अर्ध-चेतनावस्था में भी सचेत सी अवस्था को अपनाकर श्रीलक्ष्मीनिधिजी की सेवा में संलग्न रहती हैं। दो वर्ष के अनन्तर श्री लक्ष्मीनिधिजी समाधि से जागते हैं। दम्पति का समय विरह की दशों-अवस्थाओं के वन में विहार करते हुये व्यतीत हो रहा है। इस प्रकार से चतुर्दश-वर्ष की अवधि समाप्त प्रायः होने आ गई, केवल सप्त-दिवस

शेष रह गये हैं। श्री सिद्धिजी अपनी सहेली चित्राजी से श्री सीतारामजी महाराज के भावी-मिलन की वार्ता कर रही हैं, सन्ध्या का समय है, श्री लक्ष्मीनिधिजी श्वास-धन को लिये हुये अचेतन दशा में पड़े हैं, शरीर में अस्थि और चर्म मात्र अवशेष है तद्नुसार श्री सिद्धिजी भी कृशता को प्राप्त हैं।]**

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! प्राणनाथ की वियोग-व्यथा, विधि-हरि-हर के भी अनुमान और अनुभव में आने के लिये जब अशक्त है तब अन्य लोगों के ज्ञान का विषय कैसे बन सकती है। विरह की दशों-दशाओं ने वरण करके राज-कुमार को विस्मृति की शय्या में शयन करा दिया है और स्वयं उनका सम्यक्-परिरम्भण कर-करके आसक्त-मना शरीर में समाविष्ट हो गई हैं। हाय ! इन दशाओं की दुर्दशा का अदर्शन कब दृष्टि का विषय बनेगा।

चित्राजी : स्वामिनीजू ! वह समय समीप आ गया है जब विरह की दशों-दशायें श्री मिथिलेश कुमार को शीघ्र अपने बन्धन से मुक्त करके स्वयं परम प्रेम के रूप में उन्हीं के शरीर में प्रविष्ट हो जायेंगी और अपने स्वरूप को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर वियोग की आशंका के समय घूँघट डाले हुये प्रेममूर्ति श्री सुनैनानन्द-वर्धनजू का दर्शन लुक-छिप करके कर लिया करेंगी।

श्री सिद्धिजी : सहेली ! प्राणनाथ के पार्थिव-शरीर की बैवर्ण, मालिन्य तथा कृशता और विस्मृति की अशून्यता मुझे अत्यन्त अधीर बना रही है। श्रीरामजी की पनहियों के पूजक अब उनका पूजन भी नहीं कर पाते किन्तु वे अपने किंकर की सर्व भावेन सुरक्षा करना कदापि न भुलायेंगी ऐसी परम प्रतीति मेरे मन में घर कर गई है। जब पावरियों का पूजन करने प्रतिदिन बैठती हूँ तब मुझे उनकी कृपालुता का नित्य दर्शन होता है। इस समय तो शुभ-सगुनों का बाहुल्य मेरे हृदय के हर्ष का उत्कर्षक बना हुआ है।

चित्राजी : स्वामिनीजू ! मेरे हृदय में भी हर्ष की लहरें कम नहीं उठा करती हैं। स्वप्न में भी श्री मिथिलेशकुमार और अवधेश-कुमार का भाव-भरा-मनोज्ञ-मिलन प्रायः देखा करती हूँ। आप श्री के आनन्द-सिन्धु की उत्ताल-तरङ्गें जब-तब मेरे चित्त-प्रदेश को प्लावित करती रहती हैं अतएव अब वियोग के विनाश होने पर संयोग-सुख के समनुभव से आनन्द-विभोर बने आप दम्पति का दर्शन कर-करके कृत-कृत्य हो जाऊँगी मैं।

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! श्रीरामजी के वनवास की अवधि अब केवल एक सप्ताह शेष है किन्तु ये सप्त-दिवस, सप्त-कल्प के समान अत्यन्त कठिनाई से व्यतीत होंगे। हाय ! वह क्षण कब आयेगा जिसके सुख-सिन्धु में चतुर्दश-वर्ष का दुःख विलीन होकर पुनः अपना मुख न दिखायेगा।

चित्राजी : स्वामिनीजू ! प्रेमियों को स्वप्रिय-वियोग का एक निमेश कल्प के सदृश प्रतीत होता है किं पुनः सप्त-दिवसीय वियोग के विषय की वार्ता। आप सह्य-शक्ति का अवलम्बन एवं आराध्य-दर्शन की उत्कण्ठा के संबल के सहारे समय को व्यतीत करें, सहचरी की यही आर्त-प्रार्थना है।

[श्री मिथिलेशजी महाराज का पर्ण-कुटी में प्रवेश और सिद्धिजी का प्रणामकर-करके उन्हें आसनादि देना।]

श्री मिथिलेशजी : पुत्रि ! श्रीरामजी के वियोग के भुक्त-भोगी हम लोगों को केवल सात-दिन विरह की पीड़ा और सहनी पड़ेगी। आठवें-दिन अयोध्या की पावन-भूमि में भूमिजा के सहित पुण्यावतार चक्रवर्ती -कुमार रघुनन्दन रामभद्रजू का दर्शन करके कृत-कृत्य हो जायेंगे हम। मेरा विचार है कि अयोध्या के लिये ससमाज आज ही प्रस्थान करूँ, श्री आचार्य-चरणों का आदेश और आशीर्वाद भी मुझे प्राप्त हो चुका है। रथ अभी-अभी कुटीर देश में आ रहा है, अतएव कुँअर समेत तुमको उसमें आरूढ़ होकर अपने आराध्य के दर्शन के लिये अविलम्ब अयोध्या चलना होगा।

श्री सिद्धिजी : (निम्न-नयना प्रणाम करके धीरे से) आज्ञा शिरोधार्य है।

श्री मिथिलेशजी : (श्री लक्ष्मीनिधि के पास जाकर स्पर्श करते हुए) वत्स!श्रीरामजी के वनवास की अवधि अब केवल सात-दिन शेष है, अस्तु, अपने इष्ट-दर्शन के लिये तुम्हें अयोध्या चलना चाहिये। हमारी हृदय-हर्षिणी-वार्ता की हर्ष-ध्वनि तुम्हारे कर्णों का विषय बनकर शीघ्र तुम्हें प्रकृतिस्थ कर दे, यही आशा एवं आकांक्षा है।

[श्री लक्ष्मीनिधिजी, श्री रामागमन सुनते ही हर्ष से भर जाते हैं और धीरे-धीरे उठकर श्रीमान् पिताजी के चरणों में मस्तक रख देते हैं, नेत्रों से अश्रु चल रहे हैं, कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। श्री सीरध्वजजी महाराज हृदय से लगा कर प्यार करते हैं, अश्रु पोंछकर आश्वासन देते हैं, पुनः कुँअर को आसन पर पौढ़ाकर चलने की तैयारी करने के लिये कुटी के बाहर चले जाते हैं।]

श्री सिद्धिजी : चित्रे ! हमारे श्रीमान् श्वसुर देव अत्यधिक-वात्सल्य-भाव से भरे महापुरुष हैं। अहो ! अपने पुत्र और पुत्र-वधू की कितनी चिन्ता है उन्हें । प्रतिदिन दो-तीन बार आकर अपनी आँखों से हम लोगों की दैन्य दशा को देखना तथा तन्निवृत्ति के साधन मे स्वयं संलग्न रहना उनके महान-हृदय का अन्वेषण करने वालों के लिये पथ-चिन्ह है।

चित्राजी : स्वामिनीजू !श्रीमन्महाराज के हृदयाकाश में सद्‌गुणों की नक्षत्रावली प्रेम के चन्द्र के साथ सर्वदा उदित बनी रहती है, अस्तु उनके वात्सल्य भाव के विषय में क्या कहना है। आप दम्पति की मातृ एवं पितृ-भक्ति ने श्री निमिकुल नरेश के हृदय को पिघलाकर पुत्र-स्नेह की अमायिक-रज्जु से बाँध दिया है। जय हो ! अपने पूज्यों के प्रति पूज्य-बुद्धि रखने वाली हमारी स्वामिनीजू की ! अपने-अपने दृष्टिकोण से द्रष्टव्य वस्तु का दर्शन करना द्रष्टाओं की दाढर्य-बुद्धि का वैशद्य है। आप स्वरूपानुरूप ही स्वसुर-देव का दर्शन कर सुखी होती हैं।

[श्री सिद्धिजी, अयोध्या प्रस्थान की खुशी में विभोर हैं.....]

श्री सिद्धिजी : करिबै अवध पयान सहेली।
अत्यानन्द विषय की वार्ता, अहै लेहु जिय जान।
प्राणनाथ निज भगिनि-भाम के, लहि दर्शन सुख सान।
हौंहू लखत ननँद-ननदोई, पूर्ण मनोरथ मान।
सुख-समृद्धि अवध-मिथिला की, बढ़ी हर्ष हर्षान।

सहेली। आज अयोध्या के लिये हम सबको प्रस्थान करना महान–आनन्द का विषय है। अहा हा ! हमारे प्राणनाथ अपने इष्ट भगिनि–भाम से मिलकर परम–प्रसन्न हो जायेंगे। मैं भी अपने ननँद–ननदोई के दर्शन से सफल–मनोरथा होकर फूली न समाऊँगी। अयोध्या और मिथिला में पूर्ववत सुख–समृद्धि के दर्शनार्थ सुर–मुनि आ–आकर हम सबको अपने आशीर्वाद से श्रीसीतारामजी की परम–प्रीति–प्रदान करते रहेंगे। इस भाग्य–वैभव का पुनः प्राप्त हो जाना साधन–साध्य नहीं अपितु हमारे श्वसुर–देव की तपश्चर्या से परम–प्रसन्न हमारी ननँद की अहैतुकी कृपा का परिणाम है।

चित्राजी : स्वामिनीजू !आनन्द तो आनन्द–कन्द रघुनन्दन के सदा साथ–साथ डोला करता है, जहाँ वे हैं, वहीं आनन्द का अम्भोधि उत्ताल तरङ्गें लेता हुआ लहराया करता है। अस्तु अब आनन्द का आहार अहर्निशि कर–करके हम लोग स्वयं आनन्दमय हो जायेंगी। भौतिक–तत्वों से विनिर्मित मनुष्य के सदृश प्रतीत होने वाले श्री श्यामसुन्दर रघुनन्दन की देह अप्राकृत है, प्रादुर्भाव–बेला में अलौकिक दृष्टिगोचर हुये थे ऐसा दीर्घ–दर्शी कहा करते हैं, अस्तु, सच्चिदानन्द के दर्शन–स्पर्शन से सच्चिदानन्द बन जाने में कौन आश्चर्य है ?

[पुनः श्री मिथिलेशजी का प्रवेश होता है, श्री सिद्धिजी के समक्ष श्रीलक्ष्मीनिधिजी का स्पर्श करके रथारूढ़ होने की आज्ञा देते हैं।]

श्री मिथिलेशजी : वत्स ! परिकरों समेत अयोध्या प्रस्थान करो। शुभ–मुहूर्त का अतिक्रमण न हो, अस्तु, अभी–अभी तुमको रथ में चढ़ा देने के लिये हम आये हुये हैं।

[लक्ष्मीनिधिजी मूक स्वीकृति देते हुये श्रीमान् पिताजी के चरणों में लेटे लेटे साश्रु शिर रख देते हैं।]

अनुजगणः दाऊजी ! आप चलकर राज–सदन से चलने वालों की व्यवस्था करें, हम लोग सजगता के साथ प्रास्थानिक–वेला का उल्लंघन न करेंगे। श्री भाभीजी समेत भैयाजी को रथ में चढ़ाकर यहाँ का सब–समाज वाहनों मे चढ़कर आ रहा है।

श्री मिथिलेशजी : कुमारों ! बहुत अच्छा। हम जा रहे हैं, तुम लोग अपने भैया और भाभी को सम्हालकर रथ में चढ़ाना क्योंकि ये दोनों बहुत कृश हो गये हैं।

अनुजगण : आज्ञा के अनुसार ही व्यवस्था होगी, दाऊजी !

[श्रीमिथिलेशजी महाराज प्रस्थान करते हैं]

पटाक्षेप

- - - - - - - - -

सप्तितमः दृश्य : ७०

[ससमाज श्री मिथिलेशजी अयोध्याजी पुरी पहुँच चुके हैं। वनवास की अवधि के अनन्तर जनक–राज–तनयाजू के साथ सानुज श्रीरामभद्रजू पुष्पक–विमान द्वारा नन्दिग्राम पहुँचते हैं। अयोध्या और मिथिला का समाज परमानन्द से भर जाता है। श्री भरतजी व श्रीरामजी की भेंट देखकर सभी अपनेपन के ज्ञान से शून्य हो जाते हैं। क्रमशः सबसे मिलकर मूर्ति–त्रय

नारियों के समाज में सबको दर्शन देने के लिए जाते हैं। कौशिल्यादि माताओं एवं सुनैनादि सासुओं से यथोचित मिलकर सबके विरह-जनित शोक का शमन करते हैं। कृश-बदना श्री सिद्धि कुँअरि जी उसी अवसर में श्रीरामजी के चरणों में प्रणाम करते समय श्री पाद-पद्मों को पकड़े-पकडे बेसुध बसुन्धरा की गोद में गिर जाती हैं।]

श्री कौशिल्याजी : (श्रीरामजी से साश्रु) वत्स राम ! पहचान गये हो तो बतलाओ कि विरह-व्याधि से व्यथित यह विरहिणी-प्रेमिका कौन है जो तुम्हारे चरणों का स्पर्श करते ही प्रेम-मूर्छा को प्राप्त हो गई है।

श्रीरामजी : कौन अहैं यह देवी री मैया।

कृशिर शरीर अस्थि अवशेषित, प्राण कण्ठ महँ ऐबी।
योगिनि परम विशुद्ध वियोगिनि, दीखति हाय रे दैवी।
निरखत नयन प्रीति अति वर्धति, मोरेव मन अकुलैबी।
हर्षण वेगि बताउ री जननी, नहि तौ तू पछितैबी।

मैया ! मैं इतना ही पहचान पाया हूँ कि ये अस्थि-अवशेषिता कोई विश्व-वन्द्या वियोगिनी हैं जो परमार्थ-पथ की पथिका बनी हुई प्रेम की प्रतिमा सी परिभाषित हो रही हैं। यह बात अवश्य है कि इन्हें देखते ही मेरा हृदय-सरोवर, प्रेम-वारि से लबालब भरकर उछल रहा है। माता, कृपा कर शीघ्रातिशीघ्र इन दिव्य देवी के परिचय से मुझे वञ्चित न रखें।

श्री कौशिल्याजी : (साश्रु) वत्स ! ये जगदेक-सुन्दरी, सर्व-श्रेय-गुण आगरी विदेह-वंश-उजागरी, तुम्हारी श्याल-वधू श्री सिद्धि कुँअरि हैं। तुम्हारे वियोग की वह्नि से झुलसकर विवर्ण-वदना ही नहीं अपितु कंठ-गत-प्राणा हो गई हैं। सम्भव था कि आज आपके अदर्शन से इनके प्राण, प्रयाण कर जाते।

श्रीरामजी : (सुनते ही साश्रु) हैं! ये श्री मिथिलेश कुमार की प्राण-वल्लभा श्री श्रीधर-कुमारी हैं ? हाय ! आज मैं इन्हें किस रूप में देख रहा हूँ। हाय! हाय !!सबको वियोग के ताप से संतप्त करने का एकमात्र-कारण मैं हुआ।

[श्रीरामजी, श्री सिद्धि कुँअरिजी के शिर को प्यार से स्पर्श करते हैं और अपने संकल्प से प्रकृतिस्थ करते हैं। सचेत होने पर अपनी कृपा-दृष्टि से श्याल-वधू को पूर्ववत हृष्ट-पुष्ट बना देते हैं। श्री सिद्धिजी साश्रु-नयन सानुज श्रीरामजी को पुनः पुनः प्रणाम करती हैं।]

श्री सिद्धिजी : (धीरे से) श्याम सुन्दर! आपने अवधि बीतने के अनन्तर आकर अपने दर्शनामृत से निज-जनों को जीवन-दान दिया है, यह आपका औदार्य-पूर्ण-कृत्य आप श्री की कृपा का प्रकाशक है। अब आपके कृपा-कटाक्ष से कैंकर्य-परायण परिकर-वृन्द कुशल-स्वरूप हो जायेंगे। जय हो हमारे हृदय-मानस के मधुर-हंस की, जय हो हमारे मन-मोहन अवध अवतंस की .....।

श्रीरामजी : (साश्रु) कुँअर-कान्ते ! प्रेम की पराकाष्ठा ने स्वगत-स्वीकार करके आप श्री को अनन्त-अव्ययात्मा के चिदाकाश में निरन्तर विहरने को बाध्य कर दिया है। अहो ! प्रेम की प्रतिमा हमारी श्याल-वधू की समर्पण की हुई स्नेह-नीर की बिन्दु ! वारिद-वपु वाले श्यामसुन्दर की संतृप्ति के लिये केवल पर्याप्त ही नहीं है, प्रत्युत ऋणी

बनाकर सरहज के अधीन कर देने वाली सिद्ध हुई है। अब तो अहर्निशि आनन्द ! आनन्द!! आनन्द !!!

श्री सिद्धिजी : मेरे सर्वस्व ! मैं कुछ नहीं और मुझसे किया हुआ कोई कर्म, मेरा किया हुआ नहीं है। आप श्री ही कर्ता और कारयिता हैं और आप ही अपनी इस दासी की आत्मा हैं, इसलिये प्रेमिक, प्रेमास्पद और प्रेम आप ही हैं। आप श्री सर्व–तन्त्र–स्वतन्त्र सर्वेश्वर हैं, आप किसी के अधीन नहीं है, जब आपको भक्त–पराधीनता के आनन्द के आस्वादन की इच्छा होती है तब आप स्वयं भक्त बनकर भगवान को रिझाने की लीला करते हैं और आप श्री ही अपने ही आधीन बनकर भक्त के आधीन बन जाने की लीला जगत को दिखाया करते हैं। जय हो चतुर चिन्तामणि की। जय हो नवल नट–नागर की। नट की नाट्य–कला को नट या नट का कृपा–पात्र कोई सेवक ही समझता है, अन्य–जनों को तो नट का नटपन व्यामोह ही उत्पन्न कराने वाला होता है।

श्रीरामजी : प्रिये ! अन्य लोगों से मिलना अभी शेष है, अस्तु, आपकी अनुमति चाहता हूँ। अनिवार्य–कार्यों से अवकाश प्राप्त कर लेने पर आपसे वार्ता करके अपने अतृप्त–हृदय को संतृप्त करने का प्रयास करूँगा।

श्री सिद्धिजी : कालज्ञ ! समय के यथोचित–ज्ञान के साथ उसका सदुपयोग करना आप श्री को ही भली–भाँति आता है। साधारण–प्राणि–समुदाय समय का मूल्य न समझने के कारण उसके लाभ से वंचित ही रह जाते हैं। नेत्र प्रिय ! सबको नेत्र–लाभ प्रदानकर परमानन्द के सिन्धु में निमग्न करें।

[श्री सिद्धिजी से अनुमति प्राप्त कर श्रीराम जी अन्य–व्यक्तियों से मिलते हैं। श्री सिद्धिजी, श्री विदेहराज–नन्दिनीजू से मिलने के लिये आगे बढ़ते ही प्रेम–मूर्छा को प्राप्त हो जाती हैं। श्री जानकी जू अपनी भाभी की दशा देखकर अश्रु–विमोचन करती हैं और अपना कर–स्पर्श देकर प्रकृतिस्थ करती हैं। श्री सिद्धिजी, हा प्राणेश्वरी ! कहती हुई हृदय से हृदय लगाकर मिलती हैं। विभोर–भाभी–ननँद की परमा–प्रीति को देख देखकर देवगण आकाश से पुष्पवृष्टि कर रहे हैं, जयकार की ध्वनि गूँज उठती है। सबके प्रेम–प्रवाह में बाढ़ आ जाती है। कुछ काल के पश्चात् दोनों को स्मृति, वरण करती है।]

श्री सिद्धिजी : (प्यार से स्पर्श करती हुई साश्रु) हे हृदयानन्द–वर्धिनीजू ! आपका आलिङ्गन प्राप्तकर आज मेरे देह की दाह दग्ध हो गई, शीतलता के स्रष्टा ने शान्ति–सुख की सृष्टि करके मुझे आनन्दमय बना दिया। आप श्री के मुखाम्भोज के दर्शन से मेरे चक्षु–चंचरीक तृप्त होकर भी अतृप्ति का अनुभव कर–करके अधिकाधिक मकरन्द पान करने के लिये उद्योग में संलग्न हो गये। अहो ! आज विधाता ने मेरे भाग्य–वैभव को पुनः वापस कर दिया है, अस्तु, अब सम्पूर्ण–सुर–सुन्दरियों के स्पर्धा करने की पुनः विषय बन गई मैं।

श्रीसीताजी : भाभाजी ! भर–नेत्र आज आपके दर्शन से मैं भी सफल–मनोरथा हो गई, आपके आलिङ्गन एवं आदर से मैं भूर्त–पूर्व वन की व्यथा को बिलकुल भूल गई। धन्य है, आपके स्पर्श जनित–सुख को।

श्री सिद्धिजी :श्रीराज–किशोरीजू ! अवश्यमेव आप अपने जनों को देखकर ही अपना मुखाम्भोज विकसित कर पाती हैं। धन्य है आप श्री के हार्दानुग्रह को।

श्रीसीताजी : भाभीजी ! समय का अनुवर्तन हम और आपको करना चाहिये ठीक है न? क्योंकि सामयिक–करणीय–कृत्य की अवहेलना मानव को मानवता से दूर ले जाती है।

श्री सिद्धिजी : सर्वेश्वरीजू ! हाँ, हाँ! आप श्री को अभी श्रीरामजी के पीछे–पीछे ही पद–न्यास करना चाहिये। देखिये वे हमारी देवरानियों से मिलकर अब आगे बढ़ना चाहते हैं, आप श्री की प्रतीक्षा सी कर रहे हैं। अस्तु, आप श्री को शीघ्रता से वहाँ पहुँचाये देती हूँ ।

[दोनों श्रीरामजी के समीप प्रस्थान करती हैं।]

पटाक्षेप

इति षष्टमः अंकः

- - - - - - - - - - -

अथ सप्तमः अंकः

एक सप्तितमः दृश्यः ७१

[श्री रामजी महाराज का राज्याभिषेक हो चुका है। एक सुन्दर सुसज्जित कक्ष में एक दिव्य आसन पर कुँअर श्री लक्ष्मीनिधिजी के साथ श्री रामजी बैठे हैं और समीप ही दूसरे दिव्य आसन पर श्री सिद्धिजी सहित श्री विदेहराज–नन्दिनीजू विराजित हैं। परस्पर की प्रेम–पूर्ण–चर्चा से चारों मूर्तियाँ आनन्दाम्भोधि का अवगाहन कर रही हैं।]

श्री रामजी : (मन्द मुसकान एवं चितवनि युक्त) सखे परस्पर आलिंगनादि प्रेम के क्रिया–कलापों से मेरा मन चौदह–वर्षीय विरह–जन्य–विपत्तियों को विस्मरण कर चुका है। लगता है कि मेरा और आपका कभी वियोग ही नहीं हुआ था। एक शयनासन पर सोये हुये दो सुहृद जैसे स्वप्नावस्था में वियोग का दृश्य देखकर विरह के कंटीले–वन में भटकनें लगें और जाग्रतावस्था के प्राप्त होते ही दोनों स्वप्न के शोक को असत्य समझकर पुनः पारस्परिक–प्रेम–चर्या से प्रेम–सुख का समास्वादन करने लगें। अहा ! आनन्द! महाआनन्द! ! !

[श्री लक्ष्मीनिधिजी को हृदय में लगाकर आनन्द–सिन्धु श्रीराम परमानन्द का अनुभव करते हैं। श्री विदेह–नन्दिनीजू तथा श्री सिद्धिजी श्याल–भाम की परमप्रीति का दर्शन कर स्वयं प्रेम विभोर बन जाती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : करुणा–वरुणालय! आप श्री की कृपा–देवी का विमल वैभव ऐसा ही है, जिस पर भास्वती भगवती–कृपा का कटाक्ष–पात हो जाता है, उस पर मुग्ध होकर, बिना विचारे आप अपना सर्वस्व समर्पण कर देते हैं, प्रेम–भाजन बनाकर उसके क्षणिक–विरह में असहिष्णुता का अनुभव करते हैं। धन्य है, आपके जन वात्सल्य–वैभव को। आपका हार्दानुग्रह ही आप के इस सुहृद का सार–सर्वस्व है। प्यारे ! आप अपनी

इच्छा मात्र से मुझ जैसा अनन्त लक्ष्मीनिधि का निर्माण कर सकते हैं किन्तु किंकर के एकमात्र आप श्री ही ध्येय–ज्ञेय और गेय हैं। मुझ जैसे अनन्त सखा–सुहृद आप श्री को संप्राप्त हैं किन्तु मुझको असमोर्ध्व–वैभव वाले अपने बहनोई के अतिरिक्त प्रेम करने का कोई पात्र नहीं है, त्वदीयानुराग तो त्वदनुराग का चरम–पर्व है और उसमें विशुद्ध नव–नव–निर्मल–निखार लाने के लिये हैं अस्तु अनन्य प्रयोजन के अध्यवसायी के अध्यवसाय की सुरक्षा करते हुए उसके चित्त–चञ्चरीक को मधुर–मधुर मकरन्द का पान कराने के लिये अपने चरण कमलों में लगाये रखना आप श्री का कर्तव्य होगा।

श्री रामजी : (प्रेम में भरकर श्री लक्ष्मीनिधिजी को हृदय से लगाते हुए) प्रेम–मूर्ते जो आप हैं सो मैं हूँ और जो मैं हूँ सो आप हैं।समष्टि–रूप से सब चेतन, प्रकाशस्वरूप एक ही परम–तत्व हैं। व्यष्टि रूप से अनेक घटों में पड़ते हुए सूर्य के अनेक प्रतिबिम्बों का सादृश्य लेकर अनेकानेक अभिव्यक्तियों में दृष्टिगोचर होते हैं, यदि मैं आप जैसे अनन्त लक्ष्मीनिधि का निर्माण कर सकता हूँ तो आप मुझ जैसे राम को अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्तानन्त–परमाणुओं में से अनन्तानन्त रूप से प्रकट कर सकते हैं। भगवान यदि बहुत से भक्त बना सकते हैं तो भक्त सम्पूर्ण भूतों में से भगवान के बहुत से रूपों का प्राकट्य कर सकते हैं। वास्तव में बीज–फल की तरह हम और आप हैं, भाम–श्याल में सर्वदा भेद का अभाव है, अस्तु, परस्पर अपनी आत्मा का दर्शन करते हुये सहज स्नेह की सरिता में समवगाहन करते रहें।

[श्री रामजी श्री लक्ष्मीनिधिजी को हृदय से लगाकर "दो से एक" हो गये। प्रेमाद्वैत चरम–सीमा को संप्राप्त हो गया।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (श्री रामजी को गोद में लेकर) मेरे सर्वस्व ! आपके जानने एवं जनाने से किंकर इतना जानता है कि मैं और मेरे नाम की कोई भी अभिव्यक्ति अपने अन्तःकरण में नहीं प्रतीत होती, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा में आप श्री ही पूर्ण–रूपेण प्रतिष्ठित हैं। अस्तु तत्सम्बन्धी वस्तुओं और व्यवहारों में भी आप श्री का ही अधिपत्य है।हृदय में आप श्री के प्रति आश्चर्यमयी अत्यन्त आसक्ति का आभास जो जगतको व मुझे अनुभव में आ रहा है, वह भाव–वश्य हमारे भाम–भगवान का ही प्रेम–प्रकाश है और उसके अनुभव करने वाले भी आप श्री ही हैं। प्रकृति–सम्बन्ध को स्वीकार करके लीला–जगत में भाम–श्याल का परस्पर प्रेम श्याल के व्यक्तित्व में निर्मल–निखार लाने के लिये है क्योंकि चेतन का स्वरूपानुरूप प्रथम–कार्य महा–चेतन के प्रति सहज–प्रेम करना है और दूसरा कार्य कृतज्ञता प्रकट करना है। दास आप श्री के आधीन है तथा आप श्री का ही शेष, भोग्य और रक्ष्य है। भोगने का प्रकार आप श्री के इच्छानुकूल है अस्तु जब जैसा उपयोग आप करना चाहें, करें ! मुझे तो आप श्री का विकसित–मुखाम्भोज सर्वदा–दर्शन करने को मिलता रहें, बस यही आशा और आकांक्षा है।

श्री रामजी : (प्रेम में भरकर) प्राण–प्रिय–सखे ! आपके हार्द–स्नेह ने अपनी अचिन्त्य–शक्ति के सुदृढ़–पाश से मुझको बाँधकर आप श्री के हृद्देश के भीतर बाहर बिहार करने के लिये बाध्य कर दिया है अस्तु, हृदयालिंगन के लोभ से अपने सूक्ष्म–स्थूल–रूप को आप श्री के उर स्थल से अन्यत्र नहीं पाता।

(श्री रामजी, श्री लक्ष्मीनिधिजी के हृदय का गाढ़ालिंगन कर–करके

प्रेम विभोर हो गये। मिथिलेश-कुमार भी प्रेम-प्रावण्य की प्रबलता से स्मृति-शून्य हो गये।)

श्री सिद्धिजी : श्री लाड़िलीजू ! भाम-श्याल की प्रेममयी-भव्य-झाँकी का दर्शन करके कृत-कृत्य हो गई मैं। आप श्री के भैयाजी की चतुर्दश-वर्षीय विरह-व्यथा की बहिता के प्रवाह में बहकर मैं स्मृति को साथ नहीं रख पाती थी, श्वास-प्रश्वास, विषैली-वायु के समान कष्ट-कारण प्रतीत होती थी। प्रकृतिस्थ होने पर लगता कि कल्प-समूहों की सदृशता लिये हुये अवधि के दिन कभी समाप्त भी होंगे कि नहीं ? हाय! कब वह स्वर्णिम-समय संप्राप्त होगा, जब श्याल-भाम परस्पर प्रेमालिंगन कर-करके प्रेम-चर्चा से सान्द्रानन्द में निमग्न हो जायेंगे और मैं उनकी आरती उतारकर पुनःपुनः बलिहारी जाऊँगी अतएव अब मुझे युगल-किशोर की आरती उतारनी है, प्यारी जू !

श्री किशोरी : भाभीजी ! आप श्री के ननदोई श्याम सुन्दर भी हमारे भैयाजी के वियोग से व्याकुल होकर कभी-कभी बेसुधि हो जाते थे। हाय ! सखे ! कह-कहकर शयन करते समय चीत्कार कर बैठते थे उनकी दशा से अभिभूत मेरी दशा और भी दयनीय हो जाती थी। श्री लक्ष्मण कुमार के प्रबोध करने पर हम लोग कुछ प्रबुद्ध से दृष्टिगोचर होने लगते थे। स्मृति-युक्त होने पर मैं भी कल्पना करती कि कब वह सुखमय समय संप्राप्त होगा जब श्याल-भाम की अंग-मालिका मेरे मन में आह्लाद का संचार करती हुई युगल-कुमार को आनन्द-सिन्धु का समवगाहन करायेगी अतएव भाभी के साथ ननँद को स्मृति-शून्य श्याल-भाम की आरती उतारने में कोई अयुक्त न होगा।

श्री सिद्धिजी : प्यारीजू ! अवश्य, अवश्य हम दोनों, इन दोनों की आरती उतारकर मंगलानुशासन करें। जय हो ! हमारी प्राण-संजीवनी जू की।

[श्री सिद्धिजी एवं श्री किशोरीजू, युगल कुमारों की आरती करके मंगलानुशासन करती हैं। श्री सिद्धिजी अपनी ननँद-ननदोई के अभ्युदय के लिए सविधि सवा करोड़-गोदान करने का संकल्प करके और भी भूमि, भवन, वासन, वृषभ, हाथी, घोड़े, रथ, अन्न, रस फल, वस्त्र, भूषण, अंगराग, औषधि और दासी, दासादि अनेक-अनेक प्रकार का दान देने का संकल्प कर संतुष्ट होती हैं। पुनः भाभी-ननँद उपचार द्वारा श्याल-भाम को प्रकृतिस्थ करती हैं।]

श्री रामजी : कुँअर-वल्लभे ! अहा हा ! आज आपके मधुर-मधुर मुख-कंज के मधुर-मधुर मकरन्द का पान करती हुई मुरली-मधुपिका ने अपनी मनमोहनी-ध्वनि से आपके मन-मोहन को स्मृति-प्रदान कर दी। धन्य है आज के आनन्द को। कब से अपनी सरहज-प्रदत्त परमानन्द की अनुभूति करने के लिए समुत्सुक, चौदह-वर्ष के अनन्तर उस आनन्द का अनुभव करके आनन्दमय बन गया मैं। शुभ-दर्शने ! आज आप दम्पति के दर्शनाह्लाद से हम दम्पति के दैन्य की दुर्दशा हो गई, उसका उर से निष्क्रमण हो गया। अहो! आज चारों-मूर्तियाँ प्रेम के प्रकाश से प्रकाशित नेह-निकुंज में निमग्न बैठी हुई जिस अतीतानन्द का अनुभव कर रही हैं उस सुख का स्वप्न प्रकृति-प्रदेश में अत्यन्त दुर्लभ है। अहा ! आनन्द ! महाआनन्द ! ! !

श्री सीताजी : भाभीजी ! भैया के भाम की वाणी का विसर्ग अन्तर-हृदय के सारतम-भावों का सिद्धान्त है, वास्तविक-तथ्य का विकासक है। आप दोनों के वियोग-

काल में हम दोनों को जैसा कालक्षेप करना पडा वैसा अनुभव करना केवल अन्तर-मन का कार्य था किन्तु वह आप लोगों के पास रहकर हमें अमन बनाये रहता था, अस्तु, उस स्थिति का वर्णन वाक्य-विज्ञान के द्वारा असंभव है।

श्री रामजी : कुँअर-कान्ते ! हमारी इच्छा हो रही है कि आप श्री के मुख से विनिस्सृत-संगीत-सुधा का पान श्रवण-पुटों से करके सुख-समुद्र में निमग्न हो जायें।

श्री सीताजी : (धीरे से) भाभीजी ! आप श्री के श्याम-सुन्दर साश्रु जब-तब कहा करते थे कि कब वह सुख-प्रद समय सुलभ होगा जब हम अपनी सरहज के कर-कमलों से झंकरित-तन्त्री के मधुर-मधुर बोलों को श्रवण करेंगे। अहा! संगीत- सुषमा के सौरभ्य-सार का सौलभ्य तो हमारी भाभी के सुमुखारविन्द में ही दृष्टिगोचर होता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हृदयेश्वर ! आप श्री अपनी सेवा करने का सुअवसर अपनी अत्यधिक-रुचि से आज अपनी श्याल-बधू को दे रहे हैं। अहो ! गांधर्वकला के कोविद भुवन-श्रेष्ठ भरताग्रज अपनी किंकरी के मुख से संगीत श्रवण करके सुखी होना चाहते हैं। धन्य है इनके सौभाग्य को और आपके सौशील्य को। "श्यामसुन्दर कब मुझे अपने कैंकर्य में लगायेंगे" यह कहकर ये नित्य अधीर और स्मृति-शून्य हो जाती थीं। इनका नित्य जीना और मरना देख-देखकर मेरा कठोर-हृदय भी कोमल बन जाया करता था।

श्री सिद्धिजी : हृदयानन्द-वर्धन ! आप श्री मेरे मुख से संगीत श्रवण करके मुझे परम-पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने की कामना कर रहे हैं, आपका यह अनागन्तुक और अपरिसीमित औदार्य है। निज-जनों को प्राप्य की प्राप्ति कराने वाले प्रापक आप श्री ही हैं, अस्तु, आपकी इच्छा को अपनी इच्छा तथा आपके आनन्द को अपना आनन्द मानने वाली आपकी किंकरी नियोजित एवं प्रेरित कैंकर्यानुसार अभी-अभी आप श्री को संगीत की सुन्दर-वाटिका में विहार कराने के लिये सप्रेम प्रस्तुत है।

[पास में रखी हुई वीणा को हाथ में लेकर श्री सिद्धिजी अलाप भरने लगती हैं, श्री सियाजू, मधुर-मधुर मंजीरा बजाने लगती हैं और श्री लक्ष्मीनिधिजी मृदङ्ग के कलातमक-मधुरिम-बोलों से कलानाथ को रिझाने की चेष्टा करने लगते हैं।]

श्री सिद्धिजी का पद-गायन :

रस ही रस वर्षावैं अवध-वारे।
चित्रकूट-मन्दाकिनि तीरे, शीतल-मन्द-सुगन्ध-समीरे।
सुरभित-सुमन भ्रमर की भीरे, करि गुंजन मड़रावै कलित-कारे।
निर्मल-नीर पयस्विनि-धारा, जल-विहंग कर केलि अपारा।
विहरत तहाँ श्याम-सुकुमारा, सहित सिया भल भावें हृदय-हारे।
चुनि-चुनि-कुसुम राम-रस छाये, निजकर भूषण विविध बनाये।
प्राण-प्रिया कहँ सो पहिराये, निरखि नयन-फल पावैं मदन-मारे।
विपुल-वृष्टि रस की भइ लोनी, रास भई जस कतहुँ न होनी।
युगल-रसिक रस पी रस-भौनी, केलि करत न अघावैं सुखनि सारे।
सुरतिय-सुरभ-सुमन वर्षावैं, नृत्य-गीत करि वाद्य-बजावैं।
गगन-विमान चढ़ी हर्षावैं, हर्षण सुनि सुख पावैं श्रवण वारैं।

[श्री रामजी श्री विदेहराज-नन्दनीजू एवं श्री लक्ष्मीनिधिजी संगीत-सुधा का पान कर विभोर बन जाते हैं। पुनः प्रकृतिस्थ होने पर श्री रामजी अपनी सरहज के प्रेम में भरकर कहने लगते हैं।]

श्री रामजी : रहस्यज्ञे ! रहस्यमयी हमारी चर्या का अभिज्ञान कैसे प्राप्त हो गया है आपको । अहो ! आश्चर्य ! परमैकान्तिक-सुख का हमारा सारा का सारा संविधान हमारी सरहज के प्रकाश में आ गया । हमारे गुह्य तमभाव गुप्त न रह सके। धन्य है आपके द्राष्टत्व एवं बुद्धि के वैशद्य को।

श्री सिद्धिजी : प्रेम -प्रिय श्याम-सुन्दर ! वास्तव में अपने को आप श्री ही यथा-तत्व जानते हैं, अन्य के बुद्धि के दर्पण में आपका अभिज्ञान समर्पित करने वाला आपका प्रतिबिम्ब तभी पड़ता है, जब आप उसे अपना अनाख्येय-ज्ञान कराना चाहते हैं अन्यथा इस अबोध-अबला के चित्ताकाश में सच्चिदानन्द की चिन्मयी-लीला का उदय होना असंभव है। आनन्दकन्द के चौदह-वर्षावधि-वियोग के वन में विभ्रमण करने वाले विदेह-कुमार के सहित किंकरी के प्राणों की सुरक्षा, चित्त के गगन में उदित आप श्री की चरितचन्द्रिका के दर्शन से ही संभव हुई है। प्यारे ! रसिकाधिराज की रसोपासना का रहस्यार्थ, हम लोगों के हृदय की रास-स्थली में रास करने वाले रस-स्वरूप नवल-नायक-नायिका के ही अनुभव का विषय बना हैं, अन्य के नहीं। हृदय-रमण ही ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय पद-वाच्य है, अस्तु, संकोच करने का काम कुछ नहीं है, करेंगे तो वह आनन्द-विधायिनी-क्रिया भी आपकी लीला के अतिरिक्त और कुछ न होगी।

श्री रामजी : (मुस्कुराकर) कुँअर-कान्ते ! वास्तव में आप ! आप नहीं रह गईं, इसीलिये अहं-हीन हृदय में जानने योग्य कोई-वस्तु तिरोहित नहीं रह सकती। तीनों-काल की ज्ञातव्य-वस्तु का ज्ञान चित्त-पटल पर चमकता रहता है। प्रिये ! श्याल-भाम एवं भाभी-ननँद में कोई भेद और अन्तर नहीं है, हम चारों परस्पर प्रेम-रस का पान करते हुए लीला-देवी का अनुवर्तन करते रहें। हम सबका पारस्परिक-वियोग बिलकुल नहीं है क्योंकि जहाँ चित्त है, वहाँ ही आत्मा है, पार्थिव-शरीर का वियोग लीला-शक्ति के निर्देशानुसार लीला मात्र है एवं समय आने पर शरीर का सम्मिलन सुलभ हो जाना भी लीला-शक्ति का ही अचिन्त्य-अभिनय समझें, आप !

श्री सिद्धिजी : श्याम सुन्दर ! आपके स्वरूप का वियोग बड़े-बडे विज्ञान-विशारदों के सारे ज्ञान को भुला देता है और संयोग समस्त-साधनों एवं क्रिया-कलापों पर पानी फेर देता है, अस्तु, क्या करूँ ? किंकरी को आपकी मन-मोहिनी-मंद-मुसक्यान एवं चारु-चितवनि का दर्शन नित्य-नित्य होता रहे, बस और न चाहिये।

श्री रामजी : प्रेम-मूर्ते ! आपकी इसी आशा और आकांक्षा ने मुझे सिद्धि-सदन से एक-पद चलने में असह्य-वेदना का अनुभवी बना दिया है। आप क्या मेरी इस मनोदशा की अनुभूति नहीं करतीं ?

श्री सिद्धिजी : (साश्रु) अवश्य अनुभव करती हूँ। आप श्री के प्रेम-सिन्धु की बिन्दु का कणांश-स्नेह अपने अंशी उस विशाल-वारि-निधि को क्या अपने में आत्मसात कर सकता है ? कदापि नहीं। आप अपनी प्राप्ति के स्वयं उपाय हैं, अपनी

अहैतुकी-कृपा से ही अपनी सरहज के सदन को अपने निवास योग्य समझते हैं। जय हो जन-मन-मानस-महान हंस की।

श्री रामजी : (हँसकर) प्राण-प्रियतमे ! आप से अभी एक वार्ता नहीं बतलायी वह यह है कि श्री मन्मिथिलेश जी महाराज ने मुझे मिथिला चलने के लिये आग्रह किया है, अतएव आप श्री से आमंत्रित न होने पर भी शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि-सदन का अतिथि बनूँगा। अहा ! वहाँ की गालियाँ एवं एकान्तिक-रसमयी-लीलाओं के लोलुप राम का मन अब मिथिला ही में बिहार कर रहा है।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! अपने निजी-भवन में आमन्त्रण की क्या आवश्यकता है? गृह शेष है और गृह-पति (शेषी) के अधीन है। गृहपति इच्छानुसार अपने गृह में प्रवेश कर उसका अनुभव किया करता है फिर भी चेतन होने के सम्बन्ध से किंकरी प्रार्थना करने वाली ही थी कि आप श्री अपनी अनुचरी के आँगन में पधारकर उसका यथारुचि उपभोग करें। आप अन्तर्यामी हैं , अस्तु अपनी दासी के अन्तर-भाव को जानकर आगे से ही स्वीकृति दे दिये हैं। जय हो ! भाव-ग्राही भक्त-वत्सल-भगवान की। क्या किंकरी का मन आपके साथ किये हुये हास-विलास का स्मरण कर पुनः ललचीला नहीं बना हुआ है?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : सखे ! श्रीमान् पिताजी की इच्छा आप श्री को मिथिला पधारने के लिये इसलिये है कि विरह-वह्नि से झुलसी हुई पुरी पुनः हरी भरी हो जाय। अपनी कामना की कथा क्या कहूँ? आप अपने जन-मन-मानस के मराल हैं, अस्तु, आप श्री से अपने निवास-स्थान के कोई भाव अविदित नहीं है।

[श्री लक्ष्मीनिधिजी अपने हृदय में श्री रामजी को लगाकर प्रेम-विभोर हो जाते हैं।]

श्री सीताजी : भाभीजी ! मुझे लगता है कि वह कौन क्षण होगा जब मैं अपनी मातृ-पुरी की भूरुह-लता से युक्त भूमि का अवलोकन कर परम-सुख की समानुभूति करूँगी। हाय ! बहुत वर्ष व्यतीत हो गये अपने पितृ-पुर के दर्शन किये बिना। (प्रेम में भर जाती हैं) अहो ! करोड़ों स्वर्ग का सुख-श्वसुरालय में लड़की को संप्राप्त हो किन्तु वह साधारण पितृ-पुर के प्यार एवं स्मरण को कभी नहीं भूलती फिर मुझ जैसी लड़की को मिथिला जैसी पुरी का स्मरण स्मृति-शून्य क्यों न बना दे।

श्री रामजी : प्रियवर ! प्रेम-पुरी मिथिला का प्रेम-प्रावण्य मुझे मिथिला से क्षण-मात्र विलग नहीं होने देता। मन मिथिला ही में है, शरीर को भी शीघ्रातिशीघ्र श्री मन्मिथिलेशजी महाराज के साथ पहुँचाने के प्रयास में हूँ। शुभ-मूहूर्त समुपस्थित होने पर ससमाज पुष्पक-विमान द्वारा अपनी श्वसुर-पुरी का दर्शन अत्यन्त निकट समय में होगा ऐसा अपना विश्वास है। आपके हार्द-स्नेह का स्मरण कर लगता है कि मुहूर्त की भी अपेक्षा न करूँ किन्तु राम से ऐसा होना असंभव है क्योंकि शास्त्र-संरक्षण, सज्जनों की गति-पद्धति से ही होता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी सपत्नीक : जै हो श्री अवध-विहारी-विहारिणीजू की, जै हो श्री मिथिला-विहारी-विहारिणीजू की।

श्री रामजी : मित्र ! अब विश्राम का समय है, अस्तु, विश्राम करना चाहिये, ठीक है न ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हृदयेश्वर ! अवश्यमेव प्रकृति का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। समय से विश्राम न करने से समयानुसार विहित-कृत्यों के करने में प्रत्यवाय उत्पन्न हो जाता है।

श्री रामजी : अच्छा है, चलें अपने-अपने शयनागार को।

[चारों विश्राम-कुंज प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

- - - - - - - -

द्वि सप्तितमः दृश्यः ७२

पद : राम आये मिथिला नगरिया, लगै प्यारी ससुररिया।
दर्शन लाभ प्रजा पुरवासी, पाये अनँद अपरिया ।। लगै प्यारी०।।
जनक-सुनैना पति सह सिद्धी, रस की राशि में गरिया ।। लगै प्यारी०।।
लक्ष्मीनिधि अभिषेक की गाथा, कहत लोग सुख सरिया ।। लगै प्यारी०।।
हर्षण सरहज-श्याल परस्पर, कहत राम की चरिया ।। लगै प्यारी०।।

[श्री रामजी महाराज ससमाज मिथिला पहुँच चुके हैं, सारे प्रजा-पुरवासी दर्शन-लाभ ले-लेकर फूले नहीं समाते हैं। श्री लक्ष्मीनिधिजी के राज्याभिषेक की चर्चा जहाँ-तहाँ हो रही है, श्री सिद्धिजी अपने पति-परमेश्वर से सिद्धि-सदन में बैठी हुई तद्विषयक-चर्चा कर रही है।]

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! बहुत दिनों के विरह के पश्चात् अपने ननँद-ननदोई का नयनाभिरामीय दिव्य-दर्शन, स्पर्शन और सेवन सिद्धि-सदन के सुन्दर-सुकुंजों में मुझे प्राप्त हुआ है। अहा ! सुन्दर-सुगंध से संयुक्त सुर-सुन्दरियाँ मेरे भाग्य-वैभव का बाहुल्य देख-देखकर पुनः मुझसे स्पर्धा करने लगी हैं वास्तव में श्री सीताकान्त के सेवन का सौलभ्य, उभय-लोक के दृष्ट और श्रुत-पदार्थों की प्राप्ति-जनक सुख का तिरस्कार करता है। नित्य-निकुंज-बिहारी-बिहारिणीजू को विविध-केलि-कला के माध्यम से सुख पहुँचाने की सेवा का संविधान सुलभ करके मेरे सौभाग्य का सार्थक्य चरम-सीमा को संप्राप्त हो गया है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रेम-परिप्लुते ! युगल-मूर्तियों की सकल-विधि-सेवा संप्राप्त कर लेना ही वास्तव में परम-सिद्धि है। आप अपने नाम के रहस्यार्थ को चरितार्थ कर परम प्राप्य की प्राप्ति कर चुकी हैं। आपके आनन्द का अनुभव अन्य की अनुभूति का विषय कदापि नहीं हो सकता। मैं तो समझता हूँ कि आपकी प्रेम-प्रावण्यमयी-मूर्ति के सम्बन्ध ने ही मुझे श्यामसुन्दर के साथ मज्जन, अशन और शयन करने का सौभाग्य प्रदान किया है अन्यथा भागवत-सम्बन्ध के बिना भगवान का हार्दानुग्रह प्राप्त होना देव-दुर्लभ है।

श्री सिद्धिजी : (कान दबा कर साश्रु) हाय ! प्राणनाथ ! क्या कह रहे हैं? यद्यपि आप श्री की मुख-विनिस्सृत-मधुरवाणी श्रवणों को सदा सुधा-स्वाद का अनुपम अनुभव कराने वाली होती है तथापि आज आपके आत्म-प्रशंसात्मक वाक्य मुझे कर्ण-कटु प्रतीत हो रहे हैं। प्रभो ! बहुत स्पष्ट है कि आप श्री के सम्बन्ध एवं सौजन्य से दासी को आप

श्री के भगिनि–भाम का देव–दुर्लभ–कैंकर्य प्राप्त हुआ है, अस्तु, विपरीत–वार्ता का विनियोग करके किंकरी को लज्जा के गहरे–गर्त में निक्षेप न करें।

[कहकर श्री सिद्धिजी श्री लक्ष्मीनिधिजी के चरणों में लिपट जाती हैं।]

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (सिद्धिजी को उठाकर हृदय से लगाते हुए)प्रिये ! आपके मन का स्पर्श करने में कामना, कीर्ति और कंचन त्रिकाल भयभीत बने रहते हैं। मैंने उपर्युक्त–वार्ता आपकी प्रशंसा के लिये नहीं की है अपितु आपके प्रेम से प्रभावित होकर भागवतों की वाणी में परस्पर कृतज्ञता प्रकट करने की विशिष्ट–विधि को अपनाया है।

श्री सिद्धिजी : मेरे प्रियतम ! प्रशंसात्मक–वार्ता ने मुझे भयभीत बनाकर आप श्री से धृष्टता–पूर्ण–प्रार्थना करने के लिये प्रेरित कर दिया। क्षमा करेंगे प्रभो।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (प्यार करके) अंगों के अनुकूल की गई अंग–चेष्टाओं से अंगी सर्वदा स्वाभाविक प्रसन्न रहा करता है, वहाँ क्षमा और अमर्ष के करने का कोई कारण उपस्थित नहीं होता क्योंकि अंगी और अंग का अन्योन्य अविनाभावी–सम्बन्ध सनातन है।

श्री सिद्धिजी : नाथ के अपनाने का औदार्य पूर्ण आदर्श कितना समुज्वल और उच्चतम है। अहा ! जिसे आप श्री ने एक बार अपना कह दिया, उसके दोषों की ओर भूलकर भी दृष्टिपात न करना एक मात्र आपके हृदयाकाश की महानता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! ईश्वर सर्व–भूतों के हृदय में प्रतिष्ठित है, वही कर्ता और कारयिता है, वही अपनी योग–माया से अपनी इच्छानुसार सम्पूर्ण–भूतों को नर्तन–क्रिया में निरत किये रहता है अतएव हमारे और आपके सर्व–भाव, प्रेरक–परमात्मा के भाव हैं। मनोरमे ! इस विषय को यहीं रहने दें, एक विशेष–वार्ता पर हम लोगों को अपना अटल–विचार विनिश्चय करना अत्यावश्यक है।

श्री सिद्धिजी : नाथ ! विचारणीय विशिष्ट – वार्ता कौन सी है ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रियतमे ! श्रीमान् पिताजी राज्य–कार्य से उपरत होने की चर्चा मन्त्रिमण्डल में कर चुके हैं। उत्तराधिकारी एक मात्र यह सीताग्रज ही है, अस्तु, इस विषय में अपनी सही सम्मति मेरे श्रवणों तक पहुँचा कर सखित्व का सुदपयोग करें।

श्री सिद्धिजी : मेरे सर्वस्व ! आप श्री स्वयं परम–धीर गंभीर और विशद विवेकी है अपने भगिनि–भाम के प्रति आपका अटूट–अमल–स्नेह, अनिर्वचनीय और असमोर्ध्व है। किंकरी सर्व–भावेन परतंत्र है किन्तु आज्ञानुसार सहचरित्व का स्मरण करती हुई आपकी निश्चयात्मिका–बुद्धि का अनुगमन करके अपना अनुभव एवं विचार प्रकट कर रही है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : हाँ, हाँ ! अवश्यमेव अपना विचार प्रकट करें। प्रियतमा की बुद्धि का विमर्श ही मुझे परमार्थ–पथ का प्रदर्शक एवं सहायक है।

श्री सिद्धिजी : प्रभो ! श्री विदेहराज–नन्दिनीजू के उद्वाह–काल में अपना भावी–अधिकार अपने भगिनि–भाम के सेवार्थ संकल्प कर उन्हीं के कर–कमलों में समर्पण कर चुके हैं, अस्तु, आप श्री निश्चिन्त रहें, इस विषय में चिन्ता करना सम्पूर्ण–चिन्ताओं को आमन्त्रण कर अपने आप आवाहन कर लेना है, इसका उत्तरदायित्व रघुनन्दन राम पर

है, अतएव वे मिथिला को अयोध्या के अन्तर्गत मानकर स्वयं इसकी सुरक्षा एवं सुव्यवस्था करेगें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! श्री परम पूज्या माताजी द्वारा यह वार्ता मेरे कर्णों तक पहुँच चुकी है, कि श्री पूज्य पिताजी मेरे अभिमतानुसार श्री रामजी को मिथिला के सिंहासन में अभिषिक्त करने की बार–बार प्रार्थना कर रहे हैं, परन्तु वे अपने स्थान में मुझे आसन देकर आनन्द की अनुभूति करना चाहते हैं अस्तु, मैं अपने मन के वैषम्य एवं वैपरीत्य–भावों का अनुसंधान कर–करके विचार में निमग्न हो जाता हूँ। मेरे पंचविंशति–तत्व–समुदाय अपने आराध्य के सिंहासनासीन होने पर ही सच्चे–सुख का अनुभव करेंगे, ऐसा अपना दृढ़ निश्चय है। हाय ! कुसंस्कारों का प्राबल्य मेरे मन के मनोरथ को असिद्ध करने के लिये अवरोध कर रहा है। हाय ! इतने दिनों की आरोपित–आनन्द की आशा–वेलि को कुटिल–कर्म का मदोन्मत्त–करिवर उखाड़ फेंकेगा क्या ? हाय... !

[साश्रु अधीर होकर श्री लक्ष्मीनिधिजी श्री सिद्धिजी के अंक में गिर जाते हैं।]

श्री सिद्धिजी : (प्रकृतिस्थ करके) प्राणनाथ ! श्याम सुन्दर रघुनन्दन एवं श्री वैदेहीजू का स्वभाव अपने जनों की किंचित–प्रीति से रीझकर उन्हें सर्व–प्रकारेण सुखी देखने का है, अस्तु, वे हमारे श्रीमान् श्वसुरदेव के साग्रह–साञ्जलि–अनुरोध करने पर भी आप श्री को मिथिला के सिंहासन पर अभिषिक्त करके ही कृत कृत्य होना चाहते होंगे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये संसार में सांसारिक–परिस्थितियों, पदार्थों और प्राणियों का संयोग–वियोग सब प्रारब्धाधीन और मोह–मूलक है। परमार्थ–तत्व के परतन्त्र रहकर प्रेम–पूर्ण उसके कृतज्ञ बने रहना, तत्–कृपाधीन चेतन के स्वरूपानुरूप ज्ञान–मूल्य है इसलिये अज्ञान और मोह की प्रचुरता से जान–बूझकर भोक्ता बनना विष–पान से भी बढ़कर है और स्वरूपानुरूप–ज्ञान–सूर्य की रश्मियों के प्रकाश को प्राप्तकर भोग्य बनना अमृत पान से भी अधिक अर्ह और शाश्वत–सुख प्रदाता है, अस्तु, इस तारतम्य को चित्त की भीति पर चित्रित करके बिरले बुद्धिमान–महापुरुष ही गुह्यतम–ज्ञान की सूक्ष्म–अभिव्यक्तियों के माध्यम से परमार्थ–पद पर प्रतिष्ठित होते हैं।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! आप श्री परमार्थ–पद में स्वयं प्रभु की कृपा से प्रतिष्ठित हैं जो उस महामहिम्न–मनसागोचर परम–तत्व का स्पर्श कदापि यथा–तथा सकृत प्राप्त कर लेता है, वह वहाँ से अपना पतन नहीं देखता। राज्याभिषेक की वार्ता रघुनन्दन को आपकी इच्छानुसार यदि अरुचिकर है तो तत्–सुख–सुखी–सज्जनों के स्वरूपानुकूल वह न होगी क्योंकि प्रेमिक की परिचर्या प्रेमास्पद के मुखाम्भोज की विकासिका होती है अतएव श्यामसुन्दर के इच्छानुकूल कैंकर्य करना आपको अपना स्वरूप समझना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि दासी को राज्ञी–पद पर पूजित होने की कामना का कौतूहल एवं कौतुक नामक भूत लगा है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : राम ! राम ! ! (कर्ण दबाकर पुनः) प्रिये ! स्वप्न के संसार में भी ऐसे संभ्रम का मूषक मेरे विश्वास के वस्त्र को नहीं काट सकता यह अपनी अटल–प्रतीति है। आप तो मेरी सहधर्मिणी–सहचरी–सखी हैं, आपकी वार्ता का तथ्य परम–पथ्य है जिसके सेवन से असाध्य रोगी भी स्वस्थ–सुखी–विज्वर और अमर बन सकता है।

श्री सिद्धिजी : हृदयेश्वर!आपका मानस तो केवल राम का अभिराम आराम है जिसके सुन्दर सुगन्धित भाव–सुमनों का मकरन्द पान करने के लिए सारग्राही सीताकान्त नामक श्याम–भ्रमर अहर्निशि गुंजन कर–करके मड़राया करता है अस्तु, राम के उस अच्युत–आराम में आमय, अस्वास्थ्य और मृत्यु का नाम कहाँ ? मेरे प्रियतम ! आप श्री की आशा और आकांक्षा के सूर्य में असफलता के राहू का स्पर्श कदापिं नहीं हो सकता। आप श्री निश्चिन्त रहें, जब आप में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व का अभिमान ही नहीं है तब आसक्ति और फलाशा के विष की वेलि कहाँ से उत्पन्न होगी, जिस समय जो कार्य कराना आप श्री के इष्ट को अभीष्ट होगा, उस समय वह कार्य अपने आप आपसे होता रहेगा, जो सर्व–भावेन उनका कैंकर्य होगा प्यारे ! जब मन में किसी प्रकार का आग्रह नहीं रहता अर्थात करने न करने से अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता तब ग्रहण–त्याग एवं इच्छा–अनिच्छा के स्वरूप को समझकर सर्व–त्यागी बन जाने पर, प्रभु–प्रेरित, प्रकृति–सम्बन्ध से होने वाले कर्मों की परम्परा की गणना प्रभु की पूजा में हो जाती हैं या यों कहिये कि वे सर्व कर्म जीव से असम्बन्धित परमात्मा की चिन्मयी लीला होते हैं। इसके विपरीत अहं और मम के आधार पर कामना के पुट से प्रयुक्त कर्मों की परम्परा में फंसे रहना भयंकर भूल ही नहीं अपितु अपराध भी है, जिसके परिणामस्वरूप जीव को चौरासी–लक्ष–योनियों में चक्कर लगाते हुए संसारी बने रहना है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : बोध–विग्रहे ! आपका सुझाव एवं सत्य का संकलन बोध–विग्रहा के अनुकूल ही है, किन्तु क्या करूँ? मेरे हृदय–गगन में आशा का एक सूर्य अहर्निशि एक रस उदित बना रहता है, जिसे अब तक दुराशा के कुटिल–राहू का स्पर्श नहीं प्राप्त हो सका था, जिससे उस कमनीय–किरण–माली की काञ्चन–किरणें अन्तर्लोक को आलोक से प्रपूर्ण किये रहती थीं, आँखें उस अन्तर्गत–आशा के आदित्य को बाहर साकार–रूप से अपना विषय बनाना चाहती थीं। हाय ! अब अन्तर–आशा के अस्त हो जाने पर चाह भरे ललचीले–चक्षुओं की क्या दशा होगी ? ईश्वर जानें । हाँ, हृदय में आपके वक्तव्य का अनुसंधान अवश्यमेव शान्ति का समुत्पादक हो सकता है, ऐसे निश्चय का प्रकाश बुद्धि के क्षेत्र में हो रहा है।

श्री सिद्धिजी : सर्व–विद ! आप श्री अपने और मेरे मन के अनल्प तथा महान–मनोरथों को भली–भाँति जानते हैं क्योंकि स्वयं स्वरूप–स्थिति रहते हुये मेरी आत्मा की आत्मा हैं श्री रामजी महाराज की हम दोनों आर्तिपूर्ण प्रपत्ति करेंगे तो शरणागत–वत्सल, शरणागत–चेतन के अभीष्ट का अनादर कदापि न करेंगे ऐसी निज की प्रतीति है। यदि वे उदार–शिरोमणि अपने इष्ट–कार्य में आसक्त होते हुये से दृष्टिगोचर होंगे तो हम उनके अनुकूल–आचरण कर उन्हीं के मुख–कमल के विकासार्थ कैंकर्य करेंगे। अस्तु, दोनों दिशाओं में सेवा के सम्बन्ध से आनन्द है।हमारी चिन्ता जब चिन्तामणि को है तब हम व्यर्थ में चिन्ता क्यों करें ! आपत्ति के रथ में आरूढ़ क्यों हों ? दरिद्रता से भयतीत होकर भय की मूर्ति क्यों बनें ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपकी वार्ता का तथ्य औचित्य के अनुरूप है। हमारे मन का सम्यक्–संशोधन करके ही आपकी वाणी ने बोलना प्रारम्भ किया है। धन्य है आपके वाणी–वैभव को।

[श्री रामजी का प्रसन्न-मुद्रा में प्रवेश... श्री लक्ष्मीनिधिजी उठकर बड़े स्नेह से मिलते हैं और श्री रामजी के कर-कमल को पकड़कर आसन में बैठाते हैं। श्री सिद्धिजी पाद्यादि देकर पूजन करती हैं और प्रणाम, स्तुति करके मंगलानुशासन करती हैं।]

श्री रामजी : (सबके आसनासीन होने पर कुँअर को हृदय से लगाकर) सखे ! हमारा और आपका साहचर्य सनातन एवं शाश्वत सुख का मूल स्वरूप है जिसमें एक-दूसरे के सुख से सहज सुखी रहना ही सारतम सिद्धान्त है। अहो ! आप तो इस स्वरूपानुरूप समीचीन-सिद्धान्त के द्रष्टा एवं अपने आचरण से इसका प्रचार और प्रसार करने वाले प्राचार्य हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : चतुर-चूड़ामणि ! आज अपने श्याल के समीप पहुँचते ही श्याम सुन्दर ने उनको प्रशंसा के झंझावात से उड़ा देने का निश्चय किया है क्या ? अहो! मैं और मेरा क्या ? उत्तर में अकिञ्चित-तत्व की निष्पत्ति, बोध के विग्रह में स्वरूपानुरूप प्रविष्ट हो जाने पर पूर्ण प्रतीति हो जाती है कि सर्वस्व हमारे प्राण-प्रियतम-सखा ही हैं। साहचर्य की सदात्मिका-स्थिति आप श्री के संकल्पानुसार अपने ही को रमने एवं रमाने के लिये है। (हँसकर श्री रामजी के कपोलों में हाथ फेरते हुये चारु-चितवनि की मुद्रा में) आज के आगमन में कुछ रहस्य के अस्तित्व की प्रतिछाया मेरे मन में पड़ रही है अस्तु, आत्म-सखा को सुपटु-राजनीतिज्ञ की भाँति विस्तृत-भूमिका बाँधने के बन्धन से अपने को मुक्त करके सीधे-सीधे वह कहना चाहिये जो कहने यहाँ आये हैं। सभी सम्बन्धों के एक मात्र-स्थान आप अपने एक निष्ठ-प्रेमियों के प्रेम-बंधन में बँधकर शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं समझते और स्वयं के सच्चे-स्नेह से बाँधकर उसके स्वामी बने रहते हैं।

श्री रामजी : (सप्रेम श्याल को भुजफन्द में बाँधकर) सखे ! अपने भुजपाश के अधीन बनाकर आपके काय-वैभव एवं आत्म-वैभव का अनुभव करना आपके आत्म-सखा का व्यापार हो गया है अतएव मेरे बाहु-पाश में फंसे हुये हृदय के हार बने रहें बस, प्रकारान्तर से यही कहने के हेतु आपके समीप आने का प्रयोजन है। मैं आपसे यह पूँछता हूँ कि मेरे भुज-फन्द के फन्दे में फँसना आपको अत्यन्त रुचिकर है या अपने भुजाओं की माला से मुझे बाँधना अधिक सुख-संचारक है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : सर्वस्व ! आप श्री से अंगीकार किया हुआ चेतन ही सर्व-भावेन आपका समनुभव करने में समर्थ हो सकता है, स्वगत-स्वीकार करने वाले जीव की अभीष्ट-पूर्ति संशय-सम्पन्न एवं स्वरूप-विरुद्ध है अतएव आप अपने इस श्याल को सदा अपनी भुजाओं के पाश से कसकर बाँधे रहें, यही एक मात्र कामना है ओर इसी में मुझे परमानन्द का अत्यधिक-आस्वाद मिलता है और मिलेगा। आप सर्व-शेषी, सर्व-भोक्ता तथा सर्व-शारण्य हैं, मैं आपका शेष, भोग तथा रक्ष्य हूँ तदनुसार सहज-स्नेह के सिन्धु में निमग्न, हमारा और आपका स्वरूप सुरक्षित रहे जिससे सुख का समुद्र चारों ओर लहराता रहे। आप श्री की जनहितकारिणी-अभिरुचि ऐसी है जिसका उत्कृष्टतम-उदारहण आपके हृदय के अतिरिक्त अन्यत्र अप्राप्य है। धन्य है आपके आदर्श-व्यक्तित्व को।

श्री रामजी : हृदय–हार ! आपकी अनोखी एवं विवेचनात्मक–बुद्धि का वैशद्य, विशेषज्ञों की बुद्धि के कनक को कसने के लिये कसौटी का कार्य करता है। भद्र ! मुझे परम प्रतीति है कि आपकी सपत्नीक–सम्पूर्ण–चर्या हमारे सुख–संवर्धन के लिये है, आपने अपनी इच्छा को सर्वथा प्रशान्त करके हमारी इच्छा–पूर्ति को स्वयं का अभीष्ट बना लिया है, अस्तु, मुझे विशेषतम विश्वास है कि मैं आज अपनी कामना की लता को पुष्पित प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाऊँ गा।

(श्री रामजी की आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे, श्री लक्ष्मीनिधिजी हृदय में लिपटाकर अश्रु पोंछते हुये ....)

श्री लक्ष्मीनिधिजी : (मुस्कराते हुए) हृदय–धन ! कौन सी कामना की कमनीय–नायिका को लेकर आप श्री अपने श्याल के सदन में उसका सन्निवास बनाने के लिये सम्प्रति पधारें हैं ? अपनी भोग्य–वस्तु को भोगने में भोक्ता को कौन सा संकोच है ? कृपाकर अविलम्ब मेरे जिज्ञासु–कर्णों को अपनी अभीष्ट–वार्ता श्रवण कराकर शान्ति प्रदान करें।

श्री रामजी : सखे ! मेरी आँखों की अत्यन्त–अभिलाषा है कि आप श्री को श्री सिद्धिजी कुँअरि जी के सहित मिथिला के राज सिंहासन पर अभिषिक्त हुये देखें क्योंकि राजोपचारक–समस्त–सामग्रियों से सेवित आपका राज–वेष दर्शन करना अभीप्सुओं की अभीप्सा है। मुझे महा–विश्वास है कि आप मेरी तीव्रतम–वासना का तिरस्कार कदापि न करेंगे और न कभी किये हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : सर्व–समर्थ ! आपकी इच्छा के विरुद्ध प्रकृति के कार्य कदापि नहीं हो सकते, आपकी आज्ञा का अनुवर्तन करना जड़–चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत को स्वीकार है। अस्वीकार करने वाली त्रिभुवन में कोई शक्ति सुनी और देखी नहीं गई। सर्वेश ! क्या आप मिथिला के सर्वाधिकारी–शासक नहीं हैं ? यदि हैं तो प्रत्यक्ष–रूप से इस पुरी का प्रशासन करने में हमारे श्याम सुन्दर को क्या आपत्ति है ? प्यारे ! भगिनि का पाणिग्रहण करते समय आप श्री के चरणों में आपके श्याले ने अपना भावी–अधिकार क्या समर्पित नहीं किया था ? क्या मेरे मन में राज्य–ग्रहण करने की किञ्चित–कुटिल–कामना है ? आप श्री का नाम भक्तेष्ट–सिद्धि प्रद है, अस्तु, अपने नाम की लज्जा का सर्वथा संरक्षण करते हुये मुझ अकिंचन की प्रार्थना सुनकर अपनी स्वसुर–पुरी के राज्य का परिपालन करें और हमारी आशा–वेलि को पूर्ण–रूपेण पुष्पित करके उसे पूर्ण फलान्वित कर दें

[श्री लक्ष्मीनिधिजी, सिद्धिजी को संकेत कर प्रार्थना करने के लिये प्रेरित करते हैं।]

श्री सिद्धिजी : (सम्पुट–पाणि) शरणागत–वत्सल श्यामसुन्दर ! अपने श्याल और सरहज की इच्छा की अवहेलना आपने कभी नहीं की। प्रार्थना है कि हम लोगों के हृदय के आँगन में बहुत दिनों से पाली–पोसी हुई कामना–नामक–कुमारी को अङ्गीकृत करके उसके यौवन को सफलीभूत बनायें अन्यथा उसके जननी–जनक को उनके मन की ग्लानि गहरे–गर्त में गिरा देगी।

[श्री सिद्धिजी साश्रु–चितवनि से श्री रामजी के मुख की ओर देखकर आर्तिपूर्ण होकर चरणों में लिपट जाती हैं तदनुसार श्री लक्ष्मीनिधिजी भी "पालय माम् दीनं, पालय माम् दीनं" कहते हुये साश्रु प्रपत्ति करते हैं। श्री रामजी प्यार से सिद्धिजी को उठाते हैं, पुनः श्री लक्ष्मीनिधिजी को हृदय से लगाते हैं।]

श्री रामजी : प्राण–प्रिय मेरी श्याल–वधू ! एवं श्याल ! आप दोनों मेरे नयनों की प्यारी–पुतलियाँ हैं, स्वयं आप लोगों का उदार–हृदय इस विषय में साक्षी है। मेरे मन में निरन्तर आपका आवास है। मैंने आपकी इच्छानुसार आपके भावी–अधिकार को ग्रहण कर लिया था इसमें सन्देह नहीं। आपका राम स्वप्न में भी असत्य–भाषण नहीं करता किन्तु कैंकर्य समझकर मेरी ओर से मेरा प्रतिनिधित्व करते हुए आप अपना राज्याभिषेक करा लें। मेरी इच्छा और सुख की पूर्ति करना आपका सहज स्वरूप नहीं है ? यदि है तो मेरा मनोरथ सानन्द सफल करें। राज्य–व्यवस्था राजा रामचन्द्र के चित्त का अनुसरण करती हुई कर्मचारियों द्वारा होना ही रामराज्य की संप्रतिष्ठा है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मेरे सर्वस्व ! मैं सर्वस्व पा गया, मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया, अब आपकी इच्छानुसार आपका कैंकर्य करूँगा जैसी रुचि हो वैसी सुखप्रद–सेवा आप श्री अपन श्याल से लेते रहें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है। भोक्ता के अनुकूल भोग्य का रहना दोनों के स्वरूप का संरक्षक होता है अतएव निःसंकोच स्वतंत्रता–पूर्वक अपने चरणों में समर्पित–शेष–भूत् आत्मा का उपयोग करें। श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

[दम्पति श्री रामजी के चरणों में पुनः लिपट जाते हैं।]

श्री रामजी : (दम्पति को उठाकर) सखे ! आपसे हमको ऐसी ही आशा और आकांक्षा थी। हम सफल–मनोरथ होकर कृतकृत्य हो गये। हमारी चिर–प्रतीक्षा की साधना पूर्ण हो जाने से एक सर्वोत्तम–संतृप्ति हमारे नयनों के कोरों से झाँक रही है, आनन्द ! आनन्द !! यदि आप राज–पद के तिरस्कार करने का आग्रह कर लेते तो हम सदा अतृप्ति के आसन में पड़े–पड़े कराहते रहते। यह हमारा सारतम सौभाग्य है कि अपने श्याल और श्याल–वधू को सिंहासनासीन देख–देखकर सुख–समुद्र का समवगाहन करेंगे। हम अब आपकी अनुमति प्राप्त करना चाहते हैं कि श्री मन्मिथिलेशजी महाराज के समीप जाकर इस आनन्द समाचार से उन्हें अभिज्ञप्त करायें।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्यारे ! धन्य है आपके सहज स्वभाव को ! यह एक ध्रुव सत्य है कि राम के रामत्व का उदय अखिल–अण्डों में अपने अमल–यश का विस्तार करके स्थावर और जंगम–जगत के कल्याण के लिये हुआ है। आप श्री अपने जनों को प्रतिष्ठा के सिंहासन में बिठाये बिना शान्ति–शय्या में कभी नहीं शयन करते। श्रीमान् पिताजी के समीप आप सानन्द निःसंकोच पधारें। मैं आपकी इच्छा के बाहर होने का स्वप्न में भी दर्शन करना नहीं चाहता।

[श्री रामजी श्री लक्ष्मीनिधिजी से हिल–मिलकर प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

[श्री लक्ष्मीनिधिजी के राज्याभिषेक के पश्चात् चक्रवर्ती राजा श्री रामचन्द्रजी महाराज एवं श्री महारानी सीता, मिथिला-अयोध्या आते-जाते रहे। सपत्नीक श्री लक्ष्मीनिधिजी का भी अयोध्या-गमन समय-समय पर सर्वदा होता रहा। आनन्द का सिन्धु युगल-पुरियों को सदा आवृत्त किये रहता था। युगल-पुरियों के नरेशों के आचरण से त्रिभुवन की प्रजा सुख में सनी हुई अपने महाराज के विस्तृत-यश का सदा गान कर-करके परम प्रसन्न रहने लगी। जड़ चेतनात्मक जगत का आनन्दोल्लास संक्रामक बन गया, प्रकृति प्रफुल्ल-वदना बन गई, एवं पल्लवित तथा पुष्पित बनकर बिहँसने लगी।]

[ससिद्धि श्री लक्ष्मीनिधिजी ने श्री रामजी के साथ धरा-धाम के तीर्थों की यात्रा सपरिवार और सविधि की, दोनों पुरियों के नरेशों ने अनेकों बार अश्व-मेधादि-यज्ञों का अनुष्ठान कर-करके सुर-नर-मुनि के समाजों में प्रशंसित और प्रतिष्ठित हुये।श्री सिद्धिजी ने धर्मध्वज नामक एक पुत्र एवं सैद्धी नाम्नी एक पुत्री को जन्म दिया। दोनों के सभी संस्कार सविधि सम्पन्न किये गये। एक दिन श्री सिद्धिजी अपने पतिदेव के साथ बैठी हुई उन्हें राज-काज से उपरत होने की प्रेरणा दे रही हैं।]

पद : करि रहे दोउ परमारथ चर्चा।
सिद्धि सहित तहँ श्री लक्ष्मीनिधि, इहै मानि हरि अर्चा।
जनु प्रेमालंकार अलंकृत, विरति ज्ञान रवि वर्चा।
सोहि रहे हर्षण पृथ्वी पर, करि मैं-मोरिहिं खर्चा।

[परस्पर की चर्चा से ऐसा लग रहा है कि ज्ञान और विरति प्रेम के अलंकारों से अलंकृत होकर संसार के बीच दृष्टिगोचर हो रहे हैं।]

श्री सिद्धिजी : सहज-विरागी-वंशावतंस ! आप श्री के जन्म-जात, भक्ति-ज्ञान और वैराग्य के परम-प्रचण्ड-सूर्य की रश्मियों से जागतिक-जन-मानस के कमल सुविकसित होकर क्रान्ति एवं सुरभित-पराग से परिपूर्ण हो गये हैं यद्यपि आप श्री को ग्रहण-त्याग तथा कर्म के करने न करने से कुछ भी प्रयोजन नहीं रह गया है, इच्छानिच्छा रहित होने के कारण हमारे हृदय-धन संकल्प शून्य हो गये हैं तथापि लोक-संग्रहार्थ कुछ प्रार्थना करने की धृष्टता दासी करना चाहती है। नाथ की क्या आज्ञा है ?

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! आपकी विशिष्ट-वाणी की महत्-माधुरी मुझे सदा अपनी ओर आकृष्ट किये रहती है, क्या आप नहीं जानतीं ? यदि यह सत्य है तो शीघ्र स्व वाञ्छनीय-विचारों को प्रकट कर मुझे कर्तव्य की ओर प्रेरित करें।

श्री सिद्धिजी : धर्मज्ञ ! आप श्री को धर्म की सूक्ष्मातिसूक्ष्म-गति का ज्ञान भली-भाँति है, कर्म की गहन-गति के वन में भूलकर पथ-भ्रष्ट होने वाले आप नहीं हैं। प्राणनाथ ! अपने इकलौते-पुत्र धर्मध्वज को राज्य कार्य का भार सर्व-प्रकारेण-समर्पण करके हम लोग निश्चिन्त हो जाँय और भगवद्भाव में भरकर भगवान एवं भागवतों का भजन करें क्योंकि अवस्था के अनुसार आश्रमों का ग्रहण एवं त्याग करना शास्त्र-सम्मत है। श्री सीता राम-कृपा-पात्राधिकारी-पुत्र, प्रजापालन में परम-प्रवीण और सम्पूर्ण श्रेष्ठ गुणों में

आपके अनुरूप है अतएव पूर्वजों से प्रतिपालित–पुरी के राज्य–सिंहासन में वह सर्वथा प्रतिष्ठित होने योग्य है, यही मेरी आशा और आकांक्षा है। निर्णय निमिकुल–नरेश के हाथ में ही है, यथा–रुचि का उपयोग स्वतन्त्रता पूर्वक करने में श्रीमान् स्वतंत्र हैं, संगिनी सर्व भावेन आपके अभिमत से सहमत है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! मैं चिर–काल से यही सोच रहा था जो आप सोच रही हैं, कुछ दिन हुये अपने भगिनि–भाम से यह चर्चा चलाकर उनकी प्रसन्नता भी प्राप्त कर ली है हमने। आपसे अपने मन की वार्ता न कहने का अर्थ यह था कि मेरे मन में अपना मन मिलाने वाली के मन में जब स्वयं मनोरथ उत्पन्न होगा तब कार्य की सिद्धि का समय संप्राप्त हुआ समझूँगा क्योंकि शक्ति–सामर्थ्य स्वयं प्रेरणा देकर प्राणियों को कर्म–प्रवृत्ति की ओर जब प्रेरित करता है तब उस सिध्यात्मिका–शक्ति से समन्वित–कर्मों के करने से जीव सिद्ध–मनोरथ होता है अन्यथा अफल रहता है।

श्री सिद्धिजी : हृदयेश्वर ! वास्तव में मेरे मन में वही स्फुरण होता है जो आप श्री का मन मनन करता है, मैं सर्व–भावेन अपने प्रियतम के परतंत्र हूँ अतएवं हृदय धन, हृदय–देश को प्रेरणा देकर अपनी मनोज्ञ–वार्ताओं को किंकरी के मुख से कहला लेते हैं, सच पूछिये तो सर्व–सिद्धियाँ, सिद्धि के पति देव की सेवा करने के लिये सर्व –देश सर्व–काल में सेविका बनी हुई आपको ललचाई आँखों से देखती हैं।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्रिये ! प्रेय से श्रेय की ओर चलकर हम लोग कृपा सिन्धु की कृपा से उस देश में पहुँच गये हैं, जहाँ प्रेय का प्रतिबिम्ब भी नहीं पड़ता, अस्तु, स्वाभाविक स्वरूप में प्रतिष्ठित रहकर प्राकृत–वस्तु से विलग हो जाना स्वरूपानुरूप है परमात्मा की परमार्थ–विधायिनी स्वरूप–सृष्टि में संनिवेशित चित्त चैतन्य होकर जीव को सच्चिदानन्द से अपृथक कर देता है, अस्तु अब हम लोग उसे सृष्टि के श्याम–तमाल–तरु की सघन छाया में बैठकर निश्चिन्त शीतलता का अनुभव करें।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! केन्द्र से परिधि छूटकर केन्द्र में विलीन होने के लिये तत्–पथ का उल्लंघन कदापि नहीं करती तदनुसार हम लोगों की यात्रा अन्य ओर न देखते हुये श्रेय की संप्राप्ति पर ही समाप्त होना अवश्यमेव आत्मानुरूप है क्योंकि श्रेय की अप्राप्ति के कारण पथिक की यात्रा कल्पों तक समाप्त नहीं होती, वह यात्री प्रकृति से प्रभावित प्रेय–पथ पर ही परिभ्रमण करता रहता है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्राण–प्रिये ! अब तक आपकी अनुमति की प्रतीक्षा में ही राज्य–भार वहन करता आ रहा था अन्यथा श्रीराम–कृपा से मुक्त होकर दूसरी सेवा प्राप्त कर लिया होता यद्यपि मैंने अपने आराध्य के कैंकर्य की भावना से ही प्रजा–रंजन का कार्य किया है तथापि श्री रामजी के रुच्यानुसार यह सेवा श्री धर्मध्वज को समर्पण कर वयानुसार परम–वैराग्य और विशुद्ध–विवेक के युगल–किनारों वाली प्रभु–प्रेम की पयस्विनी में प्रवाहित होकर प्रेम के सिन्धु साकेत–बिहारी–बिहारिणी जू के चरण–चुम्बन करने की प्रबल–कामना करता हूँ। लगता है कि मेरे प्राणाधार–प्रियतम कौस्तुभ–मणि एवं श्रीवत्स–चिन्ह के समान मुझे एक क्षण के लिये अपने हृदय से अलग नहीं करना चाहते और न मैं ही उनके आलिंगन से विरत होना चाहता हूँ। कृपाप्ते ! उक्त–वार्ता का दृढ़–निश्चय हम दोनों के हृदय में श्री राम–बल्लभाजू की अहैतुकी कृपा का परिणाम है।

श्री सिद्धिजी : मेरे सर्वस्व ! किंकरी की प्रकृति–सम्बन्धी सभी कामनाओं का शमन प्रथम श्री भवदीय–कृपा से बिना साधन के हो गया था किन्तु आपके कैंकर्य का स्पर्श करते ही उदार–रूपेण यह कामना उद्‌भूत हो गई कि श्याल–भाम की मनमोहनी–मूर्ति परस्पर प्रेम–रस का आदान–प्रदान करती हुई मेरे दृगों की विषय बनी रहे और मैं तत–सुख के समृध्यर्थ–कैंकर्य कर–करके कृतकृत्य होती रहूँ। आपका संकल्प सदा सत्य से संश्लिष्ट रहता है अतएव मुझे पूर्ण विश्वास है कि हम दोनों उर्ध्व–रेता बनकर प्रमोद–बन–बिहारीजू के प्रसन्नतार्थ परम–परमार्थ का सेवनकर–करके पार्थिव–शरीर के पश्चात् भी नित्य–निकुंज–बिहारी–बिहारिणीजू के साथ उनकी नव–नव–लीला के पात्र बनकर नित्य–धाम में निवास करेंगे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : नेत्र–कान्ते ! हम लोगों को कुछ करने कराने का अधिकार एवं प्रयोजन ही क्या है ? करने– कराने वाले एक मात्र हमारे हृदय–बिहारी श्री सीताकान्त हैं, अस्तु उनकी रुचि एवं प्रवृत्ति का विरोध न करके उनके सुख के लिये सर्वथा अभिमान–शून्य अकर्तृ–भाव से हम लोगों की आत्मा, शरीर–संघात के सहित अनुयायी के अनुरूप–चेष्ठा करती हुई प्रेम विभोर कृतज्ञता प्रकट करती रहे। बस, प्रेमास्पद के रिझाने एवं कृपा–प्राप्त करने का स्वरूपानुरूप सर्व–श्रेष्ठ, सिद्ध–साधन यही है और साध्य भी यही है।

श्री सिद्धिजी : प्राणनाथ ! आप श्री का तो उपर्युक्त–प्रशस्त पथ सदा से है। अनुगामिनी भी आपका ही अनुगमन करती चली आ रही है। हम लोग जब अपने नहीं रह गये तब हमारी चेष्टायें भी स्व से सम्बन्धित नहीं रह गईं। व्यवहारिक–वाणी में व्यवहार–क्षेत्र के निर्वाह के लिये जो अष्ट–कारकों की विभक्तियों से युक्त लिंग और वचनानुसार संज्ञा–सर्वनाम–विशेषण और क्रिया के शब्द, अव्यय का व्यय न करते हुये निकलते हैं, वे भी वाक्–पति–ब्रह्म के ही हैं अतएव हमारी प्रार्थना और आपकी स्वीकृति श्रीराम की चिन्मय–लीला का एक अंश है और उन्हीं की इच्छा से उन्हीं के सुख के लिये उन्हीं के द्वारा संविधान है।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : प्यारी ! निर्गुण–निराकार, निर्विशेष–ब्रह्म के ज्ञान जनित सुख से अत्यन्त विलक्षण सगुण– साकार और सविशेष–ब्रह्म के ज्ञान–जनित आनन्द का विशद–वैभव है। इस तथ्य का तात्विक–विवचेन वहीं कर सकते हैं जिन्हें उस परम–तत्व की कृपा ने वरण कर लिया है। अहा ! हम लोगों के भाग्य का सूर्य भास्वती–कृपा के जेष्ठमास को प्राप्त कर कितना चमक रहा है, जिसके प्रमाण में सुर–नर–मुनि सब एक स्वर से कहते हैं कि धन्य हैं ससिद्धि श्री लक्ष्मीनिधि , जिनको पूर्णतम–परब्रह्म–परमात्मा अपने बाहुपाश में बाँधकर हृदय से कदापि अलग करना नहीं चाहता। अस्तु, अब हम लोगों को भी उनकी इच्छानुकूल लोक–वेद–कर्मों को न्यास करके प्राण–प्यारे रघुनन्दन की प्रेम–गली में जीने और मरने का दृढ़–निश्चय करके मीन–पतिंगा और पपीहे का व्रत धारण कर लेना चाहिये।

श्री सिद्धिजी : प्रियतम ! प्रेमाश्रुओं के सिन्धु में स्नान करते–करते आप स्वयं स्नेह के सागर बनकर संसार के चक्षुओं का विषय बन गये हैं आप श्री शिशु–अवस्था से लेकर अद्यावधि प्रेम–पथ के विशेषज्ञ और प्रवीर–पथिक बने रहे हैं, पथ ही में प्रेमास्पद

को प्राप्तकर साहचर्य–सुख की सम्प्राति–दशा में सुख–स्वरूप हो गये हैं तथा रस की अखण्ड–धारा में पड़कर धारा का आकार धारण कर लिये हैं। आप श्री को ग्रहण–त्याग एवं करने न करने से कोई प्रयोजन नहीं है। उक्त–प्रार्थना लोक–संग्रहार्थ मैंने की है, क्योंकि आर्य–श्रेष्ठ के आचरित–आचरणों का अनुसरण ही लोक किया करता है इसलिये ज्ञानी –जन भी अनपेक्षित अपने आचरणों से अज्ञानियों की बुद्धि में भेद कभी नहीं उत्पन्न करते।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : मैं आपके हृदगत भावों को भली–भाँति समझता हूँ !प्रिये आपके विचार ही तो मेरे विचार हैं। ससमाज अपने भगिनि –भाम को बुलाकर अविलम्ब आपको अपने आत्मज के अभिषेक की झाँकी का दर्शन कराने के लिये प्रयत्नशील हूँ और रहूँगा।

श्री सिद्धिजी : जै हो हमारे हृदय–हर्षण जू की। अब वह समय सन्निकट आ गया है कि जिसको प्राप्तकर हम लोग अत्यन्त रुचि के साथ निवृत्ति–मार्ग के विशुद्ध–पथ पर निर्भय चल करके प्रभु–कृपा से परमार्थ की पूर्ण प्राप्ति कर लेंगे और हम परमार्थ के अतिरिक्त अवशेषित कोई अन्य–तत्व न रह जायेगे।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : इसमें क्या संदेह है प्रिये । स्वयं परमार्थ–स्वरूप–परब्रह्म–परमात्मा हम लोगों की करांगुलियों को पकड़कर समुत्सुक–सर्वभावेन अपनी समग्रतया प्राप्ति कराने के लिये आगे बढ़ रहा है। जय हो कृपा–सिन्धु की कृपा को।

श्री सिद्धिजी : प्यारे ! आज की चर्चा के उपसंहार एवं निष्कर्ष ने हम दोनों के हृदय–कमल को प्रफुल्ल बना दिया है। अब सायं–कालीन–कृत्य के निर्वाह की वेला का अतिक्रमण न होना चाहिये।

श्री लक्ष्मीनिधिजी : अवश्यमेव ! आवश्यकीय कार्यों की अवहेलना नहीं होनी चाहिये।

[दोनों सायं कृत्य करने के लिये प्रस्थान करते हैं।]

पटाक्षेप

....

चतुः सप्तितमः दृश्यः ७४

[श्री कौशलाधिपति श्री रामजी की अध्यक्षता में श्री लक्ष्मीनिधिजी के पुत्र धर्मध्वजजी के राज्याभिषेक का महोत्सव बडे धूम–धाम से मनाया गया, पश्चात् सपत्नीक श्री लक्ष्मीनिधिजी कछुये की तरह सब ओर से अपने मन व इन्द्रियों को व्यवहार से हटाकर अखण्ड–हरि–भजन करने लगे। सुर–नर–मुनि सभी इनकी पारमार्थिक–अवस्था को देख–देखकर आश्चर्य–सागर में निमग्न होने लगे, उधर अयोध्या में श्री रामजी महाराज, महारानी सीताजी के सहित तेरह–हजार–वर्षीय–अखण्ड–यज्ञ के अनुष्ठान में निरत हो गये। यज्ञान्त में महा–समारोह हुआ, जैसा न कभी हुआ था और न होने वाला है।]

[पंचध्वनि के साथ श्रीमिथिला व श्री अवध का सम्पूर्ण समाज श्री रामजी के साथ अवभृथ स्नान के लिये जा रहा है।]

पद : यज्ञ अन्तहिं सिय राम आज।
जात अवभृथ स्नान करन को, पंचध्वनि रहि गाज।
मिथिला-अवध समाज सुसोहैं, संग रघुकुल राज।
सुरगण-सुरभित सुमन की वर्षा, करत जयति अवाज।
हर्षण आनन्द मगन ह्वै नृत्यहिं, नर-तिय की समाज।

[अवभृथ स्नान के लिये जाते समय सानुज श्री रामजी के साथ ससमाज श्री लक्ष्मीनिधिजी भी थे। स्नान के पश्चात् सब सरयूजी के विस्तृत-किनारे पर ज्यों ही खडे होते हैं त्यों ही एक अलौकिक और विशाल-विमान भूमि पर उतरता है, विमान के पुरुष श्री रामजी से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो इस विमान पर चढ़कर स्वधाम को प्रस्थान करें। श्री रामजी महाराज अपनी मधुर-वाणी से सबके चित्त को आकर्षित करते हुये श्री सीताजू की ओर देखकर कहते हैं कि, "चलें,सब कोई इस विमान पर चढ़कर अपने-अपने घर को चलें।" श्री जनक-नन्दिनीजू संकेत से स्वीकृति देकर अपनी भाभी का हाथ पकड़कर परस्पर कुछ वार्ता करने लगती हैं।]

श्री सीताजी : भाभीजी! यह विमान हमारी भाभीजी ही के बिहरने योग्य है और आतुरता के साथ इसीलिये इसका यहाँ आगमन हुआ है। देखिये ! दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न योग-सिद्ध महापुरुष एवं देवगण आप पर पुष्प-वर्षा का बाहुल्य कर-करके जय-जयकार कर रहे हैं। जब भैयाजी के साथ इस सच्चिदानन्द-स्वरूप-विमान के नित्य-निकुंजों में आपका नित्य-बिहार होगा तब आपकी ननँद आनन्द-सिन्धु में समाविष्ट होकर कृत कृत्य हो जायेगी। अहो ! यही तो मेरा परम-प्रिय-प्रयोजन है।

श्री सिद्धिजी : प्यारी जू! अलौकिक-विभूति वाले परम-प्रकाशमान विमान की नव्यता और भव्यता को देखकर मन से मैंने उसे अपने ननँद-ननदोई को सर्वभावेन-समर्पण कर दिया है। हम दोनों की विशुद्ध-विहार-स्थली उर्ध्वादि-दिव्य-रेखाओं के लता-गुल्मों से अत्यन्त-अभिराम और रमणीय आप युगल-मूर्तियों की पाद-पंकज-श्री के नित्य-नवल-कुंज हैं, अहो ! अनन्य-प्रयोजन-प्राणियों के परमाश्रय तो युगल-चरण-कमल ही हैं, जहाँ से चित्त-चञ्चरीक के निकलने का अल्प-क्षण का अवसर नहीं है।

श्री सीताजी : भाभीजी ! अच्छा ! ऐसा ही हो, ऐसा ही हो किन्तु जहाँ-जहाँ भ्रातृ-वधू के आराध्य के चरण-कमल गमन करेंगे, वहाँ-वहाँ लुब्धा भाभी-भ्रमरिका को जाना ही होगा, क्यों ? बुद्धि-वसुन्धरा के गर्भ में संन्निहित ज्ञान-रत्न के आलोक से जगत को आलोकित करके हमारी भाभी अब स्व-स्वरूप के प्रमोद-विपिन में सदा विहार करेंगी और सीता का शीतल-हृदय भाभी के समर्पित भाव-सुमनों को सूँघ-सूँघकर आनन्द के अपार-सिन्धु के किनारे का दर्शन अनन्त-कल्पों तक न कर पायेगा।

श्री सिद्धिजी : लाडिलीजू ! अवश्यमेव ! अवध-विहारी-बिहारिणीजू के पाद-पंकजों के बिना आत्माहार की अप्राप्ति में इस अबोध-भ्रमरिका को ठौर कहाँ ?

जीव-भ्रमर की जीवनी-शक्ति, सीता-कमलिनी से ही आती है अतएव सीता का संयोग सिद्धि को सर्वदा अपेक्षित है, जिन चरण-कमलों के देश में काल की कलना नहीं, उसी देश को हृदय से लगाई हुई सिद्धि सर्वदा सुख के सिन्धु में समाई रहेगी।

श्री सीताजी : (श्री सिद्धिजी का हाथ पकड़कर) भाभीजी ! अविलम्ब चलें, विमानारोहण कर श्याल-भाम की भव्य-भावना को पूर्ण करें और उनकी ऐच्छिक-लीलाओं में लालित्य लाने के लिये योग-दान दें।

श्री सिद्धिजी : बहुत अच्छा लाड़िलीजू ! चलें, यह सब आप श्री की ही लीला है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। आप श्री का सदा मंगल हो, मंगल हो, मंगल हो।

[दोनों भाभी-ननँद विमान में सपरिकर ज्यों ही चढ़ जाती हैं त्यों ही श्री रामजी, श्री लक्ष्मीनिधिजी का हाथ पकड़कर सपरिकर सपरिवार एवं उत्तर-कौशल के प्रजा-पुरवासियों के सहित चढ़ जाते हैं जब अयोध्या के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी तथा लता-समूह भी दिव्य-रूप धारणकर विमान में चढ़ गये तब विधि-हरि-हर समेत, समस्त-देवता अपनी-अपनी देवियों के सहित अपने-अपने विमानों में चढ़े हुये श्री सीतारामजी की स्तुति करने लगे। आकाश से पुष्प-वर्षा के साथ जयकार की ध्वनि होने लगी। वाद्यों की विपुल-ध्वनि से गगन गूँज उठा, अप्सरायें नृत्य-गान करने लगीं, विमान के भीतर सिंहासनासीन श्री सीतारामजी के आगे उनके परिकर नृत्य-गान करने लगे, पंचध्वनि से सबका चित्त, चैतन्य हो गया। श्री रामजी महाराज ने यह सब देखकर एक मन्द मुसकान ज्यों ही छोड़ी त्यों ही विमान अदृश्य हो गया। समस्त परिकर-वृन्दों के समेत युगल-सरकार अपने को साकेत-धाम में देखते हैं। धरा-धाम की लीला सबको स्वप्न सी लगी। सभी समाज साकेत-बिहारी-बिहारिणीजू की सेवा में निमग्न हो गया।]

श्री सिद्धिजी : हे श्री साकेतेश्वरि ! अभी-अभी आप श्री के शोभासिन्धु में निमग्न मेरे नयन-मीनों की पलकें गिरीं कि एक-निमेष में मैंने आप श्री के सहित श्री रामजी की, की हुई धरा-धाम की लीला का लालित्य अच्छी तरह से अवलोकन किया। अहा ! युगल किशोर ने हम दम्पति को महान और मधुरतम-सुख का विस्तृत-वितरण किया। जै हो, नित्य निकुंज-बिहारी बिहारिणी जू की...!

श्री सीताजी : भाभीजी ! प्राणनाथ ने धरा-धाम में लीला करने का संकल्प किया था। सत्य-संकल्प की इच्छानुसार एक-निमेष में कई हजार-वर्षों की लीला धरा-धाम में बड़े धूम-धाम से हो गई जैसे लोग एक क्षण में अपने जन्म से मरण तक का चरित्र, स्वप्न में देख लेते हैं। आप श्री के ननदोई जी की कामना से ही हमारे भ्राता और भाभीजी को भी मर्त्य-धाम चलकर अपने युगल-इष्टों के सुखार्थ लीला का पाठ करना पड़ा जो लीला-शक्ति के स्वरूपानुरूप समुचित पाठ करने की प्रक्रिया का प्रदर्शन था।

श्री सिद्धिजी : श्रीराम-कान्ते ! आप श्री की अहैतुकी-कृपा-वैभव का विस्तार एवं उसका गहन -ज्ञान मुझे भली-भाँति हो गया। अहा! सर्वेश्वरी होते हुये भी आपने अत्र-तत्र मुझे अपनी भाभी के पद पर प्रतिष्ठित रखकर सम्मान और अत्यधिक हार्द-स्नेह के साथ अपने सकल-विधि कैंकर्य को प्रदान किया है। जै हो कृपार्णवाजू की, जै हो जीव-जीवनी जू की, जै हो सुख-संवर्धिनीजू की।

श्री सीताजी : भाभीजी ! आप श्री मेरी नित्य की भ्रातृ–वधू हैं और मैं आपकी ननँद हूँ इसलिये आप धरा–धाम जाकर भी पुनः अपने रूप में आ गईं और मेरे आनन्द सिन्धु का सम्वर्धन करने के लिये पूर्णिमा का निष्कलंक–पूर्ण–चन्द्र बनीं। जै हो हमारे भ्रातृ–वधू की, जै हो युगल–चन्द्र–मुख–चकोरी की।

श्री रामजी : कुँअर–कान्ते ! विदेह–वंश–वैजयन्ती आपकी ननँद का कथन सर्वथा सत्य है। श्री लक्ष्मीनिधिजी हमारे नित्य के श्याल और आप श्री सरहज हैं। आप दोनों की चारु–चेष्टायें हम दोनों के सुखार्थ हैं, अस्तु, अब आप लोग अपनी दैनन्दिनी–लीला से हम लोगों के आनन्द–सिन्धु को वृद्धिगत करने के लिये पूर्णिमा के युगल–चन्द्र बने रहें।

ससिद्धि लक्ष्मीनिधिजी : जै हो करुणा–वरुणालयाजू की ! जै हो कृपा सिन्धुजू की ! जय हो दया–सागरीजू की ... ! कृपालो ! आप श्री की अहैतुकी कृपा से हम दोनों को, आप दोनों के सकल–विधि–कैंकर्य की प्राप्ति हो गई। अब युगल मुखाम्भोज को विकसित देख–देखकर हमारा आनन्दाम्भोधि क्षण–क्षण विवर्धमान होता रहेगा।

[श्री लक्ष्मीनिधिजी ससिद्धि श्री रामजी व श्री सीताजू के चरणों में आत्म निवेदन कर गिर पड़ते हैं। श्री रामजी व श्री सीताजी अपने कर–कमलों से उन्हें उठाकर सम्बन्धानुसार सम्मान व प्यार करते हैं पुनः समस्त परिकर–वृन्दों के साथ दिव्य–दम्पति अनवरत लीला करने लगते हैं।]

पटाक्षेप

इति चतुः सप्तितमः दृश्यः

समाप्तोऽयं प्रबन्धः

श्री सिद्धि लक्ष्मीनिधिभ्याँ नमः

श्री सीतारामाभ्याँ नमः

\- - - - - - - - - - -

श्री सीताराम

अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी रामहर्षणदासजी महाराज का अमूल्य भक्ति साहित्य :

१– वेदान्त दर्शन (ब्रह्म–सूत्र व्याख्या)
२– प्रेमरामायण (द्वितीय संस्करण)
३– गीता–ज्ञान
४– लीला–सुधा–सिन्धु (पद्य)
५– औपनिषद ब्रह्मबोध
६– विनय वल्लरी (पद्य)
७– श्री सिद्धि स्वरूप वैभव (द्वितीय संस्करण)
८– विशुद्ध ब्रह्मबोध
९– वैदेही दर्शन
१०– मिथिला माधुरी
११– रस चन्द्रिका
१२– प्रपत्ति प्रभा स्तोत्र
१३– ध्यान वल्लरी
१४– पंचशतक
१५– विवाहाष्टक
१६– चिदाकाश की चिन्मयी लीला

द्वितीय संस्करण प्रेस में :

१७– विरह वल्लरी (पद्य)
१८– हर्षणं सतसई
१९– उपदेशामृत
२०– वैष्णवीय विज्ञान
२१– लीला विलास
२२– प्रेम वल्लरी

भावी प्रकाशन :

२३– आत्म विश्लेषण
२४– रामराज्य
२५– अष्टयाम

प्रकाशन विभाग

श्री रामहर्षण कुंज, परिक्रमा मार्ग, नयाघाट, अयोध्या